ISSN : 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का
समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल

वर्ष 20 | अंक 1 | जून 2022

www.mpissr.org

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

संरक्षक

प्रोफेसर गोपालकृष्ण शर्मा

सम्पादक

प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक

डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

सलाहकार मण्डल

प्रोफेसर अनिल कुमार वर्मा
समाज एवं राजनीति अध्ययन केन्द्र, कानपुर (उ.प्र.)

प्रोफेसर बदरीनारायण
गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज (उ.प्र.)

प्रोफेसर मणीन्द्रनाथ ठाकुर
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर संजय लोढ़ा
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

प्रोफेसर डी.एम. दिवाकर
ए.एन. सिन्हा समाज विज्ञान संस्थान, पटना (बिहार)

प्रोफेसर सन्दीप जोशी
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (म.प्र.)

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

वर्ष 20 | जून 2022 | अंक 1

सम्पादक
प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक
डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान
(भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार
एवं उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन का स्वायत्त शोध संस्थान)
6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र
उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश)

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा प्रकाशित ***मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल*** अन्तर्विषयक प्रकृति का समीक्षीत अर्द्धवार्षिक जर्नल है। जर्नल के प्रकाशन का उद्देश्य समाज विज्ञानों में अध्ययन एवं अनुसन्धान को बढ़ावा देना तथा समसामयिक विषयों पर लेखकों एवं शोधार्थियों को लेखन एवं सन्दर्भ हेतु समुचित अवसर प्रदान करना है।

समाज विज्ञानियों एवं शोधार्थियों से भारतीय एवं क्षेत्रीय सन्दर्भों पर सम-सामयिक विषयों यथा - सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, विकासात्मक, प्रशासनिक मुद्दों, समस्याओं एवं प्रक्रियाओं पर शोधपरक आलेख, पुस्तक समीक्षा आदि आमन्त्रित हैं।

जर्नल में प्रकाशित शोध आलेखों में प्रस्तुत किये गये तथा व्यक्त किये गये विचार और टिप्पणियाँ सन्दर्भित लेखकों की हैं। इन्हें सम्पादक अथवा संस्थान के विचारों के प्रतिनिधित्व के रूप में नहीं लिया जाना चाहिये।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक		प्रति अंक	
संस्थागत	रु. 400.00	संस्थागत	रु. 200.00
व्यक्तिगत	रु. 300.00	व्यक्तिगत	रु. 150.00

जर्नल हेतु सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट/चैक द्वारा निम्न पते पर भेजें

निदेशक
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान
6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र
उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश)
दूरभाष - (0734) 2510978, फैक्स - (0734) 3510180
e-mail: mailboxmpissr@gmail.com, mpissr@yahoo.co.in
web: mpissr.org

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)

वर्ष 20 | जून 2022 | अंक 1

पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता 1
- विश्वनाथ मिश्र एवं कुलदीप शर्मा

हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र में भारत-चीन सामुद्रिक प्रतिद्वन्द्विता 24
- राजीव रौशनकुमार

स्वच्छता पर गाँधीवादी दृष्टिकोण 30
- गुलशन कुमार

उत्तर प्रदेश में भाजपा के चुनावी गणित का समाजशास्त्रीय विश्लेषण 37
- निशान्त यादव

जनजातीय समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन : एक समाज वैज्ञानिक विश्लेषण 65
- अरुण कुमार उपाध्याय

भारत में वस्तुओं का वायदा बाजार में व्यवसाय : एक अध्ययन 68
- दिलीप कुमार एगोरे एवं पी.के. सनसे

महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग की भूमिका का अध्ययन **75**
- मिलिन्द्र त्रिपाठी

पुस्तक समीक्षा
आदर्श भारतीय समाज की संकल्पना **82**
(रामगोपाल सिंह)
- शोभा सुद्रास

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 1-23)

पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता

विश्वनाथ मिश्र* एवं कुलदीप शर्मा†

पहचान को एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की स्थिति एवं उस विशिष्ट स्थिति से उत्पन्न उसकी भूमिका को पहचान के केन्द्रीय विषय के रूप में स्वीकार किया गया है। पहचान के इन विमर्शों में यह भी सन्दर्भित है कि व्यक्ति की विशिष्ट पहचान उसे लाभार्थी और शोषित भी बनाती है और विशिष्ट शक्ति संरचना के संजाल को भी लाभान्वित करती है। इन विमर्शों ने यह भी प्रस्तावित किया कि पहचान सदैव स्वैच्छिक रूप से प्रीतिकर ही नहीं होती है बल्कि किसी विशिष्ट पहचान के प्रति व्यक्ति प्रतिरोध करता हुआ भी पाया जाता है।

पहचान की अभिव्यक्ति समर्थन के रूप में भी होती है और पहचान की अभिव्यक्ति प्रतिरोध के रूप में भी होती है। शासन व्यवस्था का स्वरूप जो भी हो उसमें प्रतिनिधित्व एवं पुनर्वितरण की प्रक्रिया किसी न किसी पहचान पर ही आधारित होती है। पहचान नव-वामपन्थ, नारीवाद, बहुसंस्कृतिवाद, समुदायवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-उपनिवेशवाद के विमर्शों में पहचान एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में उभरकर सामने आई है। इन विमर्शों में पहचान को एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति

*प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी.
E-mail: thevishwanathmishra@gmail.com
†शोध छात्र, मानविकी विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी.

की स्थिति एवं उस विशिष्ट स्थिति से उत्पन्न उसकी भूमिका को पहचान के केन्द्रीय विषय के रूप में स्वीकार किया गया है। पहचान के इन विमर्शों में यह भी सन्दर्भित है कि व्यक्ति की विशिष्ट पहचान उसे लाभार्थी और शोषित भी बनाती है और विशिष्ट शक्ति संरचना के संजाल को भी लाभान्वित करती है। इन विमर्शों ने यह भी प्रस्तावित किया कि पहचान सदैव स्वैच्छिक रूप से प्रीतिकर ही नहीं होती है बल्कि किसी विशिष्ट पहचान के प्रति व्यक्ति प्रतिरोध करता हुआ भी पाया जाता है। यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्येक पहचान के साथ विशिष्ट भूमिकाएँ, अधिकार अथवा निर्योग्यता सम्मिलित होती हैं। इसी कारण प्रत्येक पहचान जहाँ मनुष्य को कुछ करने का अधिकार देती है वहीं उसे कुछ न करने के लिए आदेशित भी करती है।

परम्परागत समाजों में जहाँ सामाजिक गतिशीलता की गति धीमी होती थी और जिसके कारण पहचान परिवर्तन के सीमित अवसर होते थे वहाँ पहचान की राजनीति एवं इस राजनीति को प्रेरित करने वाली बौद्धिकता का एक अलग स्वरूप होता था। जबकि, आधुनिक समाजों में और विशेषकर जन-समाजों में जहाँ सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होती है और भूमिका परिवर्तन के अवसर अधिक होते हैं वहाँ पहचान की राजनीति एवं इस राजनीति की बौद्धिकता परम्परागत समाजों की अपेक्षा अलग होती है। किन्तु, यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता को लेकर जिन दो वर्गीकरणों की बात की गयी है वे 'आइडियल टाइप' हैं। जबकि, सामाजिक जीवन में व्यक्ति पहचान के सन्दर्भ में कभी भी परम्परागत समाजों की मान्यताओं और आधुनिक समाज की मान्यताओं की सम्मिलित क्रिया-प्रतिक्रिया से अप्रभावित नहीं होता है। इसका कारण यह है कि परम्परागत समाजों के पहचान की इकाइयाँ, जैसे - वंश, लिंग, जाति, धर्म, राष्ट्रीयता आदि का प्रभाव आज भी बना हुआ है। मूलत: व्यक्ति की प्रदत्त पहचान आज भी वही होती हैं जो परम्परागत समाजों में भी प्रचलित थी किन्तु परम्परागत समाजों के पहचान आधारित भूमिका आधुनिक युग में आकर तेजी से बदल गयी हैं। साथ ही समाज की शक्ति संरचनाओं में भी परिवर्तन आया है और विशिष्ट पहचान के साथ विशिष्ट भूमिका को जोड़ने की बौद्धिकता में एक ऐसा खुलापन भी आया है जो एक पहचान के साथ बहुल भूमिका को जोड़ देने की बौद्धिकता की ओर जाता है। फिर भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि विशिष्ट पहचान एवं उस पहचान से जुड़ी भूमिका को छोड़कर दूसरी भूमिकाओं या अनेक तरह की भूमिकाओं को प्राप्त कर लेने की स्वतन्त्रता सभी लोगों एवं सभी समूहों को एक ही तरह से प्राप्त नहीं हैं।

I

राजनीतिक एवं दार्शनिक चिन्तन के इतिहास का पुनरावलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि पहचान हमेशा से एक ऐसे विवाद-प्रतिवाद का विषय रहा है जिसने समाज, संस्कृति, दर्शन एवं बौद्धिकता को प्रभावित किया है और स्वयं इससे प्रभावित भी हुई है। सुकरात को मृत्युदंड देने वाले एनीटस समूह की यह मान्यता थी कि सुकरात एक नयी

पहचान की बात कर रहे हैं जो उस समय के पैगन आस्था से जुड़ी पहचान को खतरे में डाल देगी। इसी तरह का भय उन रोमन लोगों में भी था जिन्होंने ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया था। इन दोनों ही घटनाओं में देह एवं विचार हत्या के जो प्रयास हुए हैं उनके पीछे एक विशिष्ट पहचान से समर्थन पा रही शक्ति संरचना को अपने टूट जाने का भय भी सम्मिलित है, भले ही उस भय को आगे चलकर इतिहास ने झूठा एवं निहित स्वार्थों पर आधारित बताया हो। किन्तु ऐसे कुत्सित प्रयासों पर अब तक लगाम नहीं लग पायी है। गोड़से के द्वारा गाँधी की हत्या के पीछे भी पहचान की राजनीति एवं उस राजनीति की एक विशिष्ट बौद्धिकता काम कर रही थी, ऐसा देखा जा सकता है। गाँधी जिस पहचान की वकालात करते थे वह जाति, लिंग, राष्ट्रीयता, भाषा, पन्थ इत्यादि से ऊपर उठकर एक मानवीय पहचान थी। किन्तु, तब के गाँधी हत्या के पैरोकारों, जिनकी कमी आज भी नहीं है, वे पहचान को जातीय एवं भू-क्षेत्रीय परिधि का विषय मानते रहे हैं। गाँधी के सन्दर्भ से भारत में पहचान के प्रश्न को उभारने के लिए वेदान्त मत का सहारा लेते हुए यह कहना समीचीन होगा कि गाँधी जिस पहचान की बात करते थे वह वेदान्त आधारित पहचान है। उल्लेखनीय है कि वेदान्त में और तदनुरूप गीता में पहचान के लिए 'तटस्थ लक्षण' और 'स्वरूप लक्षण' का उल्लेख किया गया है। मनुष्य के तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत जिन तत्वों को रखा गया है वे भौतिक पहचान के विषय हैं तथा अहम् (ईगो) की चेतना से जुड़े हुए हैं। इनमें जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र, निवास स्थान इत्यादि से जुड़ी हुई पहचान सम्मिलित है। वेदान्त का मत है कि तटस्थ लक्षण आधारित पहचान, इन पहचानों से जुड़ी हुई भूमिकाएँ और इन पहचानों से जुड़ी हुई संरचनाएँ मनुष्य के भौतिक जीवन के लिए आवश्यक तो होती हैं किन्तु यह मनुष्य का स्वरूप लक्षण नहीं है। मनुष्य के तटस्थ लक्षण से जुड़ी पहचान संघर्ष, क्लेश, विषाद एवं विभाजन की कारक होती हैं। इन पर नियन्त्रण रखने के लिए मनुष्य में एक उच्च चेतना की तार्किक आवश्यकता होती है। चेतना के उस स्तर पर मनुष्य की जो पहचान बनती है, वेदान्त में उसे स्वरूप लक्षण आधारित पहचान कहा गया है। यह एक अनौपाधिक पहचान है जबकि मनुष्य की तटस्थ लक्षण आधारित पहचान औपाधिक पहचान है। अनौपाधिक पहचान के अन्तर्गत वेदान्त मनुष्य को विशुद्ध चैतन्य आत्म-तत्व के रूप में देखता है जिसकी कोई लिंग, जाति, भाषा, क्षेत्र आधारित पृष्ठभूमि नहीं होती है।

ऐसा माना जाता है कि पश्चिमी सांस्कृतिक अध्ययनों में पहचान का विमर्श उत्तरवर्ती आधुनिकता की घटना है। किन्तु, ऐतिहासिक सन्दर्भों पर सूक्ष्म रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमी परम्परा में पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय के मूल में जिस आधुनिक मनुष्य की अवधारणा समाहित है, वह एक नयी पहचान के साथ उत्पन्न हुआ है। वह पहचान है सेक्युलर पहचान अथवा मनुष्य को अ-ऐतिहासिक एवं अ-सामाजिक प्राणी के रूप में पहचानने का प्रयास।[1] पश्चिमी ज्ञानोदय के इस प्रयास के मूल में उस पहचान को त्याग देने की प्रेरणा एक महत्वपूर्ण कारक था जिसने लगभग एक हजार साल के इतिहास में धर्म के नाम पर पाखंड और उससे उत्पन्न संघर्ष एवं विषाद को यूरोप में देखा था। ज्ञानोदय के बाद

सैद्धान्तिक रूप से मनुष्य को मानव के रूप में पहचानने एवं उसे गरिमापूर्ण जीवन जीने के नैसर्गिक अधिकार पर जहाँ एक ओर पर्याप्त विमर्श होते रहे हैं वहीं दूसरी ओर एक छोटे समूह को पूंजीपति, नौकरशाह, शासक, पादरी आदि की पहचान भी मिलती रही और एक बड़े समूह को मजदूर पहचान मिल गयी। यह जो मजदूर पहचान थी वह एक ऐसी पहचान थी जिसे आधुनिकता को मुक्ति के संवाहक के रूप में स्वीकार करने वालों ने भी श्रेयस्कर नहीं माना था। किन्तु, पहचान के इस यथार्थ ने पश्चिम में पहचान संघर्ष की मार्क्स एवं उनके अनुयायियों के माध्यम से एक ऐसी पटकथा लिखी जिसने पूरी दुनिया में एक समय पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता को दो विरोधी खेमों में लाकर खड़ा कर दिया।

II

आज जब हम पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता पर बात करते हैं तब उसकी पृष्ठभूमि में उपर्युक्त समस्त विचार अन्तर्निहित होते हैं। इतना अवश्य है कि पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता के परम्परागत विमर्शों की अपेक्षा आधुनिक विमर्शों का क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाधर विस्तार अत्यन्त अधिक है। सामान्यत: परम्परागत समाजों की पहचान को व्यक्तिनिष्ठ एवं दृढ़-संकल्प पहचान कहा जाता है। किन्तु, ऐसा नहीं है कि आधुनिकता की शुरूआत में जिन पहचानों की बात की जाने लगी उनमें व्यक्तिनिष्ठता एवं दृढ़-संकल्पता नहीं थी। वस्तुत: आधुनिकता के उषाकाल में जिस प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद एवं यथार्थवाद की बात सामाजिक वास्तविकताओं को समझने के लिए की जा रही थी उनके अपने पद्धति शास्त्रीय संरचनात्मक दोष भी थे। इन पद्धति शास्त्रीय परिवर्त्यों ने दावा तो यह किया था कि वे मानव जीवन की वास्तविकताओं को प्रकट करेंगे। किन्तु, इन पद्धतिशास्त्रीय परिवर्त्यों के द्वारा जिस ज्ञान का उत्पादन किया जा रहा था वह भी वर्गीय एवं जातीय हितों से मुक्त नहीं हो पाया था। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि इन पद्धतियों के सहारे जिस ज्ञान को उत्पन्न करने की कोशिश की गयी और जिस नवाचार को बढ़ावा देने की कोशिश की गयी उसने प्राचीन ज्ञान को पृष्ठभूमि में तो धकेल दिया। किन्तु, व्यक्तियों को वास्तविक जीवन में जिस हाशियाकरण का सामना करना पड़ रहा था उसकी उपेक्षा कर दी। ऐसा दो कारणों से हुआ। इनमें से पहले कारण को हम इस रूप में देख सकते हैं कि इन सभी पद्धति शास्त्रीय परिवर्त्यों ने यह स्वीकार किया कि सामाजिक जीवन का एक ही यथार्थ है और उस यथार्थ को वैज्ञानिक प्रविधि का प्रयोग करते हुए जाना जा सकता है।[2] दूसरा कारण यह था कि जिस नये ज्ञान के अलोक में प्रशिक्षित होकर नये अन्वेषक आ रहे थे और जिनके बीच में जाकर उन्हें अनुसन्धान करना था उनके बीच एक बड़ी खाई थी। इस खाई को तथ्यात्मक रूप से हम देखना चाहे तो एफ.डब्लू. टेलर के साइंटिफिक मैनेजमेंट के प्रस्तावों में देख सकते हैं जहाँ वे मिल मालिकों की इस प्रवृत्ति पर प्रहार करते हैं कि मिल मालिकों को मजदूरों के बीच नहीं जाना चाहिए।

कुल मिलाकर आधुनिकता जिस मुक्ति काम्यता का शंखनाद करते हुए उदारवाद एवं पूंजीवाद के सहारे परवान चढ़ रही थी वह धीरे-धीरे अपनी गतिशीलता को खो भी रही थी और

अपने ही द्वारा बनायी गयी रूढ़ियों में जकड़ती भी जा रही थी।[3] इन सबके परिणामस्वरूप आधुनिकता के एक कालखंड में पहचान धीरे-धीरे एकल कठोरता का विषय बन गया। भले ही पहचान की यह एकल कठोरता प्राचीन समाजों की अपेक्षा कुछ लचीली थी। किन्तु, मनुष्य की समग्र पहचान का प्रतिनिधित्व इसमें नहीं था। वस्तुत: कोई भी मनुष्य एक ही पहचान को धारण नहीं करता है। इतना अवश्य है कि उसकी विभिन्न पहचानों में किसी विशिष्ट पहचान की भूमिका सबसे अधिक प्रभावी होती हो। अथवा यह भी सम्भव है कि व्यक्ति की विभिन्न पहचानों के मध्य संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न होती हो। इसी कारण पहचान के विमर्श को एकल विमर्श के रूप में समझा ही नहीं जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि पहचान के विमर्श को उन सभी सन्दर्भों से देखा जाये जिनमें मनुष्य का वास्तविक जीवन संचालित होता है। परन्तु प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद, यथार्थवाद और आगे चलकर व्यवहारवाद इस तथ्य को समझने में असफल रहे। यही नहीं प्लेटो, हॉब्स एवं हीगल भी पहचान की राजनीति के कुछ घटकों को तो पकड़ पाए और जिसको वे पकड़ पाए उसे ही शाश्वत मानने लगे। मार्क्स ने भी यही गलती की। परिणामत: द्वितीय महायुद्ध के बाद जब दुनिया में लोकतन्त्र की एक नयी लहर आई, सूचना प्रौद्योगिकी का तेजी से विस्तार हुआ और लोगों के पास अनेक तरह की सूचनाएँ पहुँचने लगीं तब इन सबने मिलकर पहचान, भूमिका, प्रतिरोध और पहचान आधारित प्रतिनिधित्व, प्रतिष्ठा तथा पुनर्वितरण को केन्द्र में लाकर खड़ा कर दिया। अब मल्टीपल आइडेंटिटी, मल्टीफंक्शनल इंडिविजुअल और मल्टीपल वे ऑफ इंटरेस्ट आर्टीकुलेशन की बात होने लगी। बहुधा इसे लोकतन्त्र की मजबूती के उपक्रम, आधुनिक सभ्यता के अत्यधिक मानवीयकरण का प्रयास और मुक्त समाज के रूप में भी देखा गया। किन्तु, विविधता की यह बाढ़ जनमत के विभाजन और जनमत विभाजन के कारण सामूहिक संघर्ष के लिए अपेक्षित एकजुटता के बिखराव का भी कारण बन गयी। इसी कारण पहचान समसामयिक विमर्शों के सबसे जटिल मुद्दों में से एक है।

III

पश्चिमी आधुनिकता के अन्तर्निहित अन्तर्विरोधों में पहचान एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है। यद्यपि आधुनिकता के प्रचार-प्रसार के साथ पहचान आधारित यह अन्तर्विरोध अब दुनिया के सभी समाजों की एक प्रवृत्ति बन गया है। इन प्रवृत्तियों में समग्र रूप से पहचान के जिन विमर्शों की चर्चा होती है उनमें पहचान की व्यक्तिनिष्ठ धारा, पहचान की सापेक्षवादी धारा और पहचान की उत्तर-आधुनिक धारा सम्मिलित है। महायुद्ध के बाद पहचान के जिन विमर्शों ने ज्ञान एवं अनुसन्धान को सबसे अधिक प्रभावित किया है उनमें सांस्कृतिक भौतिकवाद, नव-ऐतिहसिकतावाद, नारीवाद, दलित अध्ययन, समलैंगिकतावादी अनुसन्धान, उत्तर-उपनिवेशवाद एवं अल्पसंख्यक विमर्श तथा राष्ट्रवाद महत्वपूर्ण हैं। नव-वामपन्थ का मानना है कि दमन और प्रतिरोध, केन्द्र और परिधि एवं मुख्य संस्कृति एवं अधीनस्थ संस्कृति के बीच की बहस पहचान के विमर्श को एक नयी दिशा की ओर ले जाएगी। यद्यपि, वह दिशा क्रान्ति

की ही होगी अथवा वह लोकतान्त्रीकरण की प्रक्रिया का परिणाम होगी या एक नये तरह की सहमति के साथ प्रतिरोध की दिशा में जाएगी, इस पर नव-वामपन्थी एक मत नहीं हैं। उदाहरण के लिए हैबरमास जिस संचारी तर्कसंगतता[4] की बात करते हैं वह विमर्शात्मक लोकतन्त्र की ओर जाती है और इसमें पहचान के बन्द दरवाजों को अधिक खुल जाने की सम्भावना है। लकां के सांस्कृतिक मनोविज्ञान का मानना है कि पहचान पुरुष-केन्द्रित संस्कृति की आत्म-छवि है। जबकि, दरिदा मानते हैं कि पहचान एक विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया है जिसमें पुरानी पहचान लगातार विभाजित होती रहती है और नयी पहचान का निरन्तर सृजन होता रहता है। वस्तुत: दरिदा का यह मत उनके विखंडनवादी सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। शास्त्रीय मार्क्सवादी सिद्धान्तों में पहचान को दो विपरीत ध्रुवों का विषय बना दिया गया था जिसमें एक ध्रुव (पूंजीपति) पहचान एवं पहचान से जुड़ी संरचनाओं को बनाये रखना चाहता था वहीं पहचान का दूसरा ध्रुव (सर्वहारा) इस पहचान को नष्ट कर देना चाहता था।

वस्तुत: पहचान बहुध्रुवीय ही नहीं बल्कि यह बहु-स्तरीय भी है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की भाषाई, जातीय, लिंग-आधारित, विचारधारा जनित, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, व्यवसाय जनित और सम्प्रदाय आधारित जो पहचान होती हैं उनका स्वरूप बहु-ध्रुवीय होता है और पहचान के इन सभी ध्रुवों पर व्यक्ति अनेक समूहों का सदस्य भी होता है। बहु-स्तरीय पहचान के उदाहरण के रूप में पुत्र, पति, पिता, नाना, बाबा या परदादा, मामा, भाई, चाचा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इस वर्ग की पहचान व्यक्ति को आयु क्रम में परिवार के भीतर प्राप्त हो जाती है और इन सभी पहचानों की प्रकृति एक-दूसरे से सहयोगात्मक अर्थ में जुड़ी होती है। जबकि, बहु-ध्रुवीय पहचान के अन्तर्गत व्यक्ति जिन समूहों का सदस्य होता है उनमें उसके सम्बन्ध औपचारिक प्रकृति के होते हैं और कई बार यह प्रतिरोधी हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए एक पुत्र के पति या पिता बन जाने में उसे भूमिका संघर्ष की स्थिति में असामान्य परिस्थितियों में ही पड़ना पड़ता है। किन्तु, बहु-ध्रुवीय पहचानों से जुड़े समूहों में भूमिका संघर्ष अस्वाभाविक नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए अध्यापन वृत्ति को अपनाने की पहचान व्यक्ति को साम्प्रदायिकता आधारित पहचान वाले समूह की सक्रियता से रोकती है। एक अन्य उदाहरण से भी इस तथ्य को समझा जा सकता है, जैसे - न्यायाधीश की पहचान जातीय संगठनों में भागीदारी से रोकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था शतरंज के खेल या विशाल जाल की तरह होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक, राजनीतिक, व्यावसायिक एवं विचारधारात्मक पहचान उसके लिए खेल के नियम तय करती है। प्रत्येक पहचान खेल में भाग लेने की एक विशिष्ट शैली एवं सीमा, लाभ एवं हानि तय करती है। चूँकि आधुनिक समाजों में शक्ति संरचनाओं, हित समूहों, संचार माध्यमों में मात्रात्मक वृद्धि हुई है इस नाते पहचान आधारित खेल, उसकी शैली एवं खेल के नियमों में अधिक जटिलता आ गयी है।

आधुनिक समाजों को भले ही हम मुक्त समाज कहते हों किन्तु इस समाज में व्यक्ति पहचान के विभिन्न संजालों में इस तरह उलझा होता है कि वह ज्यादातर समय अपनी चालों

को एक-दूसरे से छिपाता भी रहता है। परिणामत: जब जब मनुष्य को इस बात का आभास होता है कि वह अपनी पहचानों के कारण स्वतन्त्र चयन नहीं कर पा रहा है तब तब उसमें अस्तित्वात्मक पीड़ा भी उभरती है। ऐसे में वह यह समझता है कि वह 'बीइंग' नहीं रह गया है बल्कि 'बिकमिंग' हो गया है और यह सोच उसमें बेगानगी, निराशा, अनमनेपन एवं व्यर्थ होने का बोध उत्पन्न करती है।[5]

अस्तित्ववाद के हाथों में पड़कर पहचान एक ओर विशुद्ध दार्शनिक चेतना का विषय होकर हसर के संवृत्तिशास्त्र की ओर जाती है और दूसरी ओर यह पहचान की पूंजीवादी संरचनाओं के प्रति विद्रोह के रूप में कार्ल जैसपर्स एवं फ्रेंजफैनन के रास्ते क्रान्ति की धारा की ओर जाती है। पहचान और अस्तित्ववाद का सम्बन्ध स्वयं अस्तित्ववाद की दार्शनिक धारा के क्षीण होते जाने के परिणामस्वरूप संस्थागत बदलावों की मजबूत कड़ी नहीं बन पाया। किन्तु, अस्तित्ववाद ने पहचान, वितरण, प्रतिनिधित्व, प्रतिष्ठा एवं न्याय के बीच जिन सम्बन्धों को खोलने की कोशिश की उसके प्रभाव से अनेक विमर्शों का जन्म हुआ। इनमें मार्क्सवादी धारा ने जहाँ यह स्वीकार किया कि न्याय की समस्या के समाधान के लिए विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों को बदल देने की जरूरत है वहीं समुदायवादी यह मानते हैं कि न्याय की समस्या विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहचान के कारण नहीं होती हैं। बल्कि, न्याय की समस्या का जन्म समुदाय के मूल्यों का समुचित पालन नहीं करने के कारण होता है।[6] समतावादी चिन्तन ने मार्क्सवाद की ही तरह विभिन्न पहचानों को और उन पहचानों से जुड़े दावों को न्याय की समस्या का मूल कारण माना है। इसी कारण जॉन रॉल्स विवेकशील वार्ताकारों को - जो न्याय की समस्या के समाधान के लिए एकत्रित हुए हैं - सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि प्रदान नहीं करते हैं।[7] किन्तु, रॉल्स इस बात के प्रति सचेत हैं कि पहचान से उत्पन्न अकिंचनता और पहचान से उत्पन्न समृद्धि के बीच न्याय ही वह सूत्र है जो सामंजस्य उत्पन्न कर सकता है। इसके लिए वे समृद्धि की पृष्ठभूमि से अर्जित लाभों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते हैं। किन्तु, यह शर्त रखते हैं कि इन लाभों से अकिंचनता की पहचान वाली पृष्ठभूमि में रह रहे लोगों का भी कल्याण होना चाहिए। यही उनके शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय का मूल मन्तव्य भी है।[8]

नारीवाद के अन्तर्गत स्त्रियों के प्रति अन्याय की समस्या को उस पहचान का प्रतिफल माना गया है जो पहचान को पितृसत्तात्मकता, लिंगभेद एवं पुरुष वर्चस्व के सन्दर्भ में समझती है। प्रारम्भ में नारीवाद की विकास यात्रा जिस दिशा में हो रही थी और जिस तरह के सांस्कृतिक बदलावों की यह वाहक बन रही थी उसमें ऐसा प्रतीत हो रहा था कि विचारधारा के बाद जेंडर पहचान का सबसे प्रमुख स्तम्भ बन जायेगा। किन्तु, नारीवाद लिंगभेद से उत्पन्न आधी आबादी की पहचान संकट, प्रतिनिधित्व, प्रतिष्ठा एवं पुनर्वितरण की परिभाषा एवं प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर अपने को एकजुट नहीं रख सकी। इसका प्रमाण हमें अश्वेत नारीवाद में देखने को मिलता है जहाँ औपनिवेशिक दासता की भुक्तभोगी महिलाओं ने जेंडर

के प्रश्न पर पश्चिम की महिलाओं को अपने साथ खड़ा नहीं पाया बल्कि उन पुरुषों के साथ खड़ा पाया जो लिंगभेदी शोषण के प्रतीक थे।

प्रबोधन काल के शुरूआती दौर में पहचान के प्रश्न को जब सामाजिक संविदावादी विचारकों द्वारा समझने की कोशिश की गयी तब हॉब्स के चिन्तन में यह वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रकट हुई।[9] हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्यों को एक ऐसी पहचान दी जिसमें वे सभी संवेदनाओं के दास थे किन्तु उनमें विवेक भी था। इस अवस्था में पहचान की जो श्रेणी बनती है उस श्रेणी में शक्तिशाली एवं शक्तिहीन, दो ही श्रेणियाँ हैं। पहचान की इन श्रेणियों में सभ्यता या समाज बोध नहीं है किन्तु हानि और लाभ है तथा सुख और दु:ख का बोध है। वस्तुत: हानि और लाभ तथा सुख और दु:ख का विचार मात्र व्यक्तिगत संवेदना के विषय नहीं होते हैं बल्कि इनकी अनुभूति समूह अथवा समाज की मान्यताओं पर भी निर्भर करती है। इसी कारण हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में पहचान को समझने के सूत्र आपस में जुड़े हुए नहीं हैं बल्कि उलझे हुए हैं। सामाजिक समझौते के बाद हॉब्स के चिन्तन में पहचान की समस्या को जिस तरह से देखा गया है वह शक्ति सम्बन्धों पर आधारित पहचान है जिसमें शक्ति सम्बन्धों की संरचनाओं को निर्मित करने में सबकी भागीदारी है। किन्तु, इस भागीदारी से जब शासक और शासित के सम्बन्ध बन जाते हैं तब शासितों के पास शासन के दबाव से आरोपित पहचान को पलट देने की सम्भावना कम हो जाती है। जॉन लॉक ने हॉब्स के विपरीत प्रबोधन काल में सभी लोगों की पहचान के एक ही धरातल पर रखने की कोशिश की। इसके मूल सूत्र को जॉन लॉक ने सभी लोगों के लिए सामान प्राकृतिक स्वतन्त्रता एवं प्राकृतिक अधिकार का उपबन्ध करते हुए किया। किन्तु, लॉक ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता एवं प्राकृतिक अधिकार की व्यक्तिगत-स्वार्थयुक्त व्याख्या पहचान के विशिष्ट दावों और संघर्ष को जन्म देती है। इस संघर्ष को समाप्त करने के लिए लॉक ने संवैधानिक तन्त्र की बात की। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लॉक ने अ-वैयक्तिक रूप से विधि निर्माण करने वाली और उन विधियों को लागू करने वाली व्यवस्था के अन्तर्गत पहचान संघर्ष को और पहचान संकट को समाप्त करने का प्रयास किया।

वस्तुत: जॉन लॉक के प्रयासों से हम पश्चिमी उदीयमान पूंजीवाद और संविधानवाद के गठजोड़ ने जिस तरह से पहचान के प्रश्न को लिया उसकी एक झलक पाते हैं। जो पश्चिम में और दुनिया के अन्य देशों में पहचान को समझने का और समायोजित करने का एक महत्वपूर्ण उपक्रम साबित हुआ। यद्यपि हॉब्स एवं लॉक की दृष्टि में जिसे हम पहचान कहेंगे उसने आगे चलकर समाज में सम्पत्ति सम्बन्धों के आधार पर विभाजन उत्पन्न किया और इस विभाजन ने जिस नयी पहचान को जन्म दिया उस पर पहचान की एक नयी बहस को मार्क्सवाद ने आगे बढाया। किन्तु, मार्क्स के पहले रूसो ने हॉब्स एवं लॉक के चिन्तन से पहचान की जो प्रणाली विकसित हो रही थी उसे निरस्त करते हुए यह प्रस्तावित किया कि आधुनिक काल की पहचान वास्तव में मानवीय पहचान है ही नहीं और मनुष्य को वास्तविक पहचान प्राप्त करने के लिए पुन: प्रकृति की ओर लौटना होगा। जहाँ वह अपने मूल मानव

स्वाभाव को फिर से प्राप्त कर सकेगा। रूसो की इस बात की प्रतिध्वनि पहचान के सन्दर्भ में हमें मैक्फर्सन के चिन्तन में भी देखने को मिलती है। मैक्फर्सन ने यह प्रस्तावित किया कि हॉब्स एवं लॉक के चिन्तन में जिस स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद (पजेसिव इंडिविजुअलिज्म) का विकास हुआ है उसने मनुष्य की मानवीय पहचान को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है। इस बदलाव के लिए मैक्फर्सन यह तर्क देते हैं कि मनुष्य के भीतर दो तरह की क्षमताएँ होती हैं। प्रथम, सहयोगात्मक क्षमता (एसोसिएशनल कैपेसिटी) एवं द्वितीय, दोहनात्मक क्षमता (एक्सट्रेक्टिव कैपेसिटी)। मैक्फर्सन कहते हैं कि पूंजीवादी-बाजारवादी अर्थव्यवस्था में मनुष्य की सहयोगात्मक क्षमता के ऊपर दोहनात्मक क्षमता ने वरीयता स्थापित कर ली है।[10] मैक्फर्सन की दृष्टि में यह पहचान संकट का एक ऐसा सन्दर्भ है जिसने मनुष्य को मनुष्यत्व से निष्कासित कर दिया है। इसे ही प्राय: हर्बर्ट मर्क्युज मनुष्य का एक-आयामी बन जाना कहते हैं।[11]

प्रबोधन के एक दूसरे वर्ग के विचारकों में पहचान का विमर्श कुछ अलग तरह से विकसित हुआ है। उदाहरण के लिए (ऑनमैथड : 1637) मेंडेकार्ट ने प्लेटो के विचारों एवं आगस्टीन के अन्तर्ज्ञान के सिद्धान्त को मिलते हुए पहचान के प्रश्न को शुद्ध सोच वाले स्व के रूप में व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार स्व का सार विचार है जो दुनिया से अलग है और सभी अस्तित्व की आधारशिला है। इसीलिए डेकार्ट इस बात पर जोर देते हैं कि चेतना अपने आप में चेतना के प्रति सन्देह की क्षमता से पुष्ट होती है। यहाँ डेकार्ट ने अपनी पहचान पर अथवा अपने होने पर स्वयं ही सन्देह करने की बात कही है। इस आधार पर पहचान का जो विमर्श उत्पन्न होता है वह पहचान को विशुद्ध चेतना का विषय बना देता है। जबकि पहचान के दूसरे अनेक विमर्शों में दूसरे की चेतना एवं पहचान से स्व की चेतना एवं पहचान को टकराते हुए देखा जा सकता है। पहचान, चेतना एवं विषय की जिन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास डेकार्ट ने किया है उससे कांट एवं हीगल भी संघर्ष करते हुए दिखाई देते हैं। कांट ने भी माना कि तर्कसंगत विषय का सार 'जानने की हिम्मत' में है परन्तु कांट पहचान, आत्मज्ञान और अधिकार को एक साथ जोड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं।[12]

हीगल के लेखन में पहचान मानसिक स्थिति में चेतना के उद्भव और चेतना के विस्तार का प्रश्न है। हीगल की दृष्टि में आत्मतत्व तक जब ज्ञान नहीं पहुँचता है और वह विभिन्न इच्छाओं में बँधा रहता है तब तक वह अनेक प्रकार के संशय की दुनिया में रहता है। यह पहचान संकट एवं पहचान आधारित संघर्ष की दुनिया है किन्तु जब ज्ञान आत्मतत्व तक पहुँच जाता है तब निजता बनाम सामूहिकता से जुड़े हुए पहचान एवं उनके बीच का अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाता है।[13]

IV

उपर्युक्त परिच्छेदों में प्रबोधन काल के पहचान विमर्श की जो चर्चा हुई है उसके सन्दर्भ में स्टुअर्ट हाल कहते हैं कि प्रबोधन युग की पहचान के सन्दर्भ में मनुष्य की समझ आत्मकेन्द्रित एकीकृत व्यक्ति के रूप में है जो कारण, चेतना और कार्यवाही की क्षमता से

सम्पन्न है जिसके केन्द्र में एक आन्तरिक सत्व होता है जिसमें अहंकार का विचार मूल केन्द्रीय मानव पहचान है।[14] किन्तु, अठारहवीं शताब्दी से आगे चलने पर पहचान के विमर्श को एक नया तर्क मिला जिसमें स्व एवं समाज दो ध्रुवों में विभाजित रहे हैं। जिनमें कुछ विमर्श पहचान के सन्दर्भ में स्व के पक्ष में खड़े होते हैं और कुछ विमर्श समाज के पक्ष में खड़े होते हैं। इस परिवर्तन के मूल में हीगल और मार्क्स का टकराव है। हीगल ने जिसे पहचान के सन्दर्भ में चेतना के विकास की प्रक्रिया कहा था, मार्क्स ने उसे उत्पादन एवं वर्ग सम्बन्धों का प्रतिमान साबित कर दिया। गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हीगल के चिन्तन में पहचान को निर्धारित करने वाली सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का सन्दर्भ सम्भवत: ओझल था और इसी तरह पहचान को निर्धारित करने वाली मार्क्सवादी व्याख्या में मनुष्य इतिहास की गति में लगा हुआ किसी पुर्जे के समान था। वास्तविकता यह है कि हीगल एवं मार्क्स दोनों ने ही पहचान को एक लोहे का पिंजरा बना दिया था। शुरूआती दौर में फ्राइड एवं वेबर ने मार्क्स एवं हीगल द्वारा बनायी पहचान को लोहे के पिंजरे से मनुष्य को बाहर निकालने की कोशिश की। वेबर ने इसके लिए अत्यन्त सरलीकृत एवं व्यावहारिक प्रस्ताव रखा। वेबर का मानना है कि समान जीवनशैली और मूल्यों वाले लोग एक स्थिति समूह बनाते हैं जिसमें सामाजिक स्थिति का सम्मान निर्णायक भूमिका निभाता है। किन्तु, आगे चलकर जब स्थिति समूहों की पहचान को नौकरशाही के जरिये बनाये रखने की कोशिश वेबर में दिखती है तब वे भी पहचान के विमर्श को प्राय: एक अलग तरह के लोहे के पिंजरे में कैद करने का प्रयास कर रहे होते हैं। फ्राइड ने पहचान के विमर्श को अधिक उलझा दिया। उन्होंने इड, ईगो एवं सुपर ईगो की बात करते हुए प्रत्येक व्यक्ति में पहचान के विभिन्न स्तर बना दिए। कहने के लिए तब के समय में और आज भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्राइड का यह अभूतपूर्व योगदान था। किन्तु, फ्राइड के सिद्धान्तों को मिलने वाली वैधता ने मार्क्स की आँधी को कम करने का ही प्रयास अधिक किया। क्योंकि फ्राइड ने अब चिन्तन का एक ऐसा खाका दे दिया था जिसमें मजदूरों की अवस्था पर रहने वाला ईगो उस सुपर ईगो को वैध मान सकता था जहाँ वह भविष्य में पूंजीपति बनने का ख्वाब देखता हो।

वेबर एवं फ्राइड के सम्मिलित प्रभाव से पहचान का जो विमर्श उत्पन्न हो रहा था वह एक ओर दुनिया को सर्वहारा एवं पूंजीपति के संघर्ष में उलझने से रोक रहा था। वहीं दूसरी ओर यह व्यक्ति के अलग-अलग पहचान के ऐसे दावे को प्रस्तावित कर रहा था जो 'स्व' के किसी सुसंगत एवं एकीकृत विचार को बढ़ने से रोक भी रहा था। इस सन्दर्भ को रेखांकित करते हुए स्टुअर्ट हाल लिखते हैं कि हमारे भीतर परस्पर विरोधी पहचानें हैं, जो अलग-अलग दिशाओं में खींच रही हैं, जिससे हमारी पहचान लगातार इधर-उधर हो रही है। अगर हमें लगता है कि जन्म से मृत्यु तक हमारी एक एकीकृत पहचान है, तो यह केवल इसलिए है क्योंकि हम अपने बारे में एक सुकून देने वाली कहानी या 'स्व के अफसाने' का निर्माण कर रहे होते हैं।[15] वस्तुत: यहीं से उन एकाधिक पहचानों की बात शुरू हो जाती है जिस पर आगे चलकर उत्तर-आधुनिकतावाद ने विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तुत: उत्तर-आधुनिकतावाद जिन

एकाधिक पहचानों की बात करता है वे परस्पर विरोधी हैं। जब व्यक्ति की पहचान विभिन्न ध्रुवों की ओर जाने वाली होती हैं तब भले ही अलग-अलग तरह की पहचानों में निहित व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हों किन्तु, इससे एक विघटित व्यक्तित्व किसी एक शक्तिलिप्सा और उससे जुड़ी शक्ति संरचना के प्रतिरोध में अपने को खड़ा नहीं कर पाता है। फलत: प्राधिकारवादी संस्थाएँ उससे अधिक ताकतवर हो जाती हैं जितनी कि यह व्यक्ति के द्वारा सुनिश्चित पहचान के दावे के आधार पर हो सकती थीं। उत्तर-आधुनिक पहचान को प्रभावित करने वाले तीन मुख्य कारक हैं - सापेक्षवाद, भाषा और पहचान की राजनीति।

नीत्शे को एक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में स्वीकार करते हुए, पश्चिमी विचार तत्ववाद से सापेक्षवाद में बदलते हुए समीकरणों के बीच पहचान को समझने का प्रयास करते रहे हैं। आज, सापेक्षवाद एक दुरूह विचार बन गया है, जो सम्पूर्ण उत्तर-आधुनिक, उत्तर-संरचनात्मक विमर्श प्रणाली में व्याप्त है। सापेक्षतावाद की ताकतों की मदद से, उत्तर-आधुनिक पहचान टूटने की कगार पर है, जो उत्तर आधुनिक व्यक्तिपरकता के संकट को उजागर करती है, इस सन्दर्भ को लैरेन सारांशित करते हैं। अल्थुसर का मानना है कि विषय का उद्भव और अस्तित्व विचारधारा पर निर्भर करता है। फूको का मानना है कि विषय शक्ति सम्बन्धों का उत्पाद है और ल्योतार का मानना है कि विषय संचार प्रणाली की गुत्थी है। यह विचार या तो एक सम्भावित एकता के अस्तित्व पर सन्देह करते हैं, या किसी प्रकार के पदार्थ के अस्तित्व पर सन्देह करते हैं जो ज्ञान और अभ्यास का उत्पादन करता है।[16] संक्षेप में, उत्तर-आधुनिक चिन्तन विषय में अब पहचान की निरन्तरता की भावना नहीं है, इसे खंडित विचारों के ढेर में तोड़ दिया गया है।

दरिदा ने विघटन की प्रक्रिया में उत्कृष्ट योगदान दिया। स्थगन (डेफरेंस) और अन्त:पाठ्यता (इंटरटेक्सचुअलिटी) जैसी क्रान्तिकारी अवधारणाओं पर भरोसा करते हुए, उन्होंने संरचनात्मक भाषाविज्ञान में वाचक (सिग्नीफायर) और अभिव्यंजना (सिग्नीफायड), भाषा और दुनिया से सम्बन्धित समग्र दृष्टिकोण को पूरी तरह से तोड़ दिया। दरिदा की कलम की दिशा में, पश्चिमी लोगों का केन्द्र खंडित हो गया है और भाषा संकेतकों का एक मूल्यहीन खेल बन कर रह गई है। साथ ही दुनिया एक शाब्दिक दुनिया बन गई है। जहाँ दरिदा की लेखनी निर्देशित करती है, पश्चिमी लोगों का केन्द्र खंडित होता है। भाषा वाचक (सिग्नीफायर) के प्रचंड खेल में सिमट जाती है, और दुनिया एक पाठ्य दुनिया बन कर रह जाती है। हम जानते हैं कि इच्छा को हमेशा जरूरतों और चाहतों के बीच एक अधूरी रिक्ति (कमी) के रूप में माना जाता है, जबकि डेल्यूज़ और अन्य का दावा है कि इच्छा उत्पादन है, और मनुष्य स्वाभाविक रूप से एक इच्छा यन्त्र है। इसलिए, फॉस्टियन इच्छा मानव स्वभाव पर हावी है, और तर्कसंगत विषय भी 'खानाबदोश' विषय में बदल जाता है।

1960 के दशक से, नारीवाद, उत्तर-औपनिवेशिकतावाद और अल्पसंख्यक विमर्शों के उतार-चढ़ाव के साथ, पहचान की राजनीति एक वैश्विक परिदृश्य बन गई। तीसरी दुनिया का राष्ट्रवाद पहले विश्व के अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक राजनीति को उत्साहपूर्वक

प्रतिध्वनित करता है, जबकि नस्ल, जातीयता, लिंग, वर्ग आदि की अवधारणाएँ हाशिये पर पड़े हुए विभिन्न अस्तित्वों के साथ एक दूसरे की पूरक हैं। सबसे चौंकाने वाली बात यह है कि बड़ी संख्या में विद्वानों ने अध्ययन से बाहर कदम रखा और सैद्धान्तिक आलोचना को सांस्कृतिक अनुसन्धान के साथ मिला दिया।

समकालीन पश्चिमी सांस्कृतिक अध्ययन विदेशी फूलों और फलों से भरे एक बड़े पेड़ की तरह है। विलियम्स, ग्राम्शी, फूको और अल्थुसर एक बड़े पेड़ की शाखाओं की तरह हैं, और सांस्कृतिक अध्ययन के विभिन्न स्कूलों से पता चलता है कि इन पेड़ों पर अलग-अलग रंग और अलग-अलग स्वाद के फल होते हैं। यह कहा जाना चाहिए कि वे नयी वामपन्थी विचारधारा से बपतिस्मा लेते हैं, और उनकी जड़ें लगभग एक ही हैं। हालांकि, इन सिद्धान्तों के विभिन्न स्कूलों के आन्तरिक विकास को अभी भी और विश्लेषण की आवश्यकता है।

वृहद् दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया जाये तो उत्तर-औपनिवेशिक लेखन अपने आप में पहचान की एक अनूठी प्रथा है। 'रिवर्स राइटिंग ऑफ एम्पायर्स : द थ्योरी एंड प्रैक्टिस ऑफ पोस्टकोलोनियल लिटरेचर' में, अमेरिकी विद्वान एशक्रॉफ्ट ने इसे चार प्रकारों में विभाजित किया है -

1. जातीय या क्षेत्रीय मॉडल, जो जातीय या क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषताओं पर जोर देता है;
2. नृजातीय मॉडल, जो नस्ल पर आधारित है, साहित्य में नस्लीय उत्पत्ति जैसी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालता है, जैसे कि अफ्रीकी-अमेरिकी लेखकों डु बोइस और टोनी मॉरिसन अफ्रीकी नस्ल के प्रवासियों का प्रतिनिधित्व करते हैं;
3. एक तुलनात्मक मॉडल, जो विभिन्न उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य की भाषाई, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशेषताओं की व्याख्या करता है;
4. जटिल तुलनात्मक मॉडल, जो उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य के संरचनागत कारकों का विश्लेषण करता है, जैसे - मिश्रण या समरूपता, उदाहरण के लिए, नायपॉल का अद्वितीय उत्तर-औपनिवेशिक लेखन।

एक अन्य अमेरिकी विद्वान, सजर, उत्तर-औपनिवेशिक पहचान की राजनीति को तीन रूपों में विभाजित करते हैं -

1. पैन-राष्ट्रवाद, जैसे सेनेगल के सेनघोर और मार्टीनिक के सेजर द्वारा समर्थित अफ्रीकी नस्लीय पहचान, काला चरित्र और स्वभाव है;
2. राष्ट्रवाद, जैसे राष्ट्र-राज्य की अवधारणा पर फैनन ने जोर दिया;
3. जातीय प्रवासी और निम्नवर्ग (उपाश्रयी), जैसे भारतीय विद्वान स्पिवक द्वारा जातीय डायस्पोरा और उपवर्गों (उपाश्रयी इतिहास लेखन) का विश्लेषण। इस सैद्धान्तिक भेद के अनुसार, औपनिवेशिक पहचान के बाद की राजनीति आम तौर पर पहचान के तीन चरणों से गुजरती है - नस्लीय, जातीय और जातीय प्रवासी।

सामाजिक विकास का सिद्धान्त नस्ल की जैविक विशेषताओं पर जोर देता है। यह सिद्धान्त उत्तर मध्य युग की तरफ वापस चला जाता है। उस समय दुनिया को महान अस्तित्व की एक शृंखला के रूप में माना जाता था जो पदानुक्रमित थी जहाँ एक ध्रुव सभ्य था जबकि दूसरा ध्रुव बर्बर था। अठारहवीं शताब्दी के ज्ञानोदय के दृष्टिकोण का मानना था कि सभ्यता का इतिहास बर्बरता से लेकर तर्कसंगतता तक मनुष्य का इतिहास है। गोरे लोग अन्य जातियों से श्रेष्ठ हैं और यूरोपीय सभ्यता, सभ्यता का शिखर है। कांट ने 'फिजिकल जियोग्राफी' (1802) में नस्ल पर भौगोलिक वातावरण के प्रभाव पर जोर दिया और उन्होंने कहा, मनुष्य का सबसे आदर्श उदाहरण श्वेत व्यक्ति है। श्वेत जाति में मानवता की सर्वोच्च पूर्णता है। पीले भारतीयों में कुछ कम प्रतिभा होती है। नीग्रो लोगों में उससे भी कम प्रतिभा होती है जबकि कुछ अमेरिकी जनजातियाँ सबसे नीचे हैं।[17] हीगल का दावा है कि पृथ्वी का यह विभाजन, और पुरानी दुनिया का उपखंड, 'आकस्मिक नहीं, बल्कि आवश्यक' है। हीगल के अनुसार, "पुरानी दुनिया के उस उपखंड के लिए मानव जाति की तीन प्रमुख जातियों में विभाजन से मेल खाती है - कोकेशियान, इथियोपियाई और मंगोलियाई। इन तीन जातियों के मुख्य विशिष्ट चिह्न 'खोपड़ी और चेहरे के गठन' से प्राप्त होते हैं। मंगोलियाई और कोकेशियान की तुलना में नीग्रो की खोपड़ी अधिक संकीर्ण होती है, उनकी भौहें धनुषाकार होती हैं, फिर भी कूबड़ वाली होती हैं। उनके जबड़े झुके हुए होते हैं, उनके दाँत टेढ़े होते हैं, निचले जबड़े की हड्डी काफी दूर तक फैली होती है, उनकी त्वचा का रंग कमोबेश काला होता है, उनके बाल घुँघराले और काले होते हैं।"[18] एतद्विषयक यूरोपीय संस्कृतिवाद सांस्कृतिक मानकों, मूल्यों, विश्वासों और सामाजिक प्रथाओं जैसे जातीय सांस्कृतिक अर्थों पर जोर देता है। यह अवधारणा मानती है कि जातीय समूहों का गठन सामान्य सांस्कृतिक प्रतीकों पर निर्भर करता है और इतिहास, भाषा और संस्कृति त्रिकोणीय समर्थन है जो राष्ट्रीय विशेषताओं का निर्माण करते हैं। प्रोफेसर हॉल कहते हैं कि नस्ल शब्द स्वीकार करता है कि सभी विमर्श अपने स्थान, अवस्थिति और सन्दर्भ से सशर्त बँधे होते हैं और सभी ज्ञान का अपना विशिष्ट सन्दर्भ होता है। साथ ही, यह भी मानते हैं कि इतिहास, भाषा और संस्कृति विषय निर्माण और पहचान में एक भूमिका निभाते हैं।[19]

उपर्युक्त सामाजिक विकासवाद और संस्कृतिवाद नस्लवाद में एक शक्ति विमर्श का भी सन्दर्भ है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। उपनिवेशवादियों ने मनुष्य की जैविक और भौतिक विशेषताओं को शाश्वत नस्लीय 'टैटू' के रूप में ग्रहण किया, जो अन्य जातियों के इतिहास और संस्कृति को अनिवार्य रूप से विकृत कर देता है या मिटा देता है। वे सभ्यता और प्रगति के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, और स्वयं को पिछड़े राष्ट्रों के 'उचित और कानूनी' संरक्षक समझते हैं। इस तर्क के अनुसार, उनके पास बुराई को वश में करने और पतितों को बचाने का ऐतिहासिक मिशन है।

उत्तर-औपनिवेशिक पहचान की चर्चा में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा भी शामिल है, क्योंकि राष्ट्रीय पहचान मुख्य रूप से सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक पहचान से आती है। एक

राजनीतिक समुदाय के रूप में, एक ओर राष्ट्र-राज्य अपनी राजनीतिक एकता बनाए रखने के लिए राज्य तन्त्र पर निर्भर रहता है और दूसरी ओर, एक काल्पनिक समुदाय के रूप में इसे अपनी सांस्कृतिक एकता सुनिश्चित करने के लिए अपने ही राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत पर निर्भर रहना पड़ता है। इसमें लोककथाएँ, मिथक और किंवदन्तियाँ, साहित्यिक कथाएँ, सांस्कृतिक प्रतीक, धार्मिक समारोह आदि शामिल हैं, जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए अद्वितीय महत्व के भी हैं और एक दूसरे से भिन्न भी हैं।

'इमेजिन्ड कम्युनिटी' नामक पुस्तक में बेनेडिक्ट एंडरसन तुलनात्मक इतिहास, ऐतिहासिक समाजशास्त्र और नृविज्ञान के प्रतिच्छेदन पर आधारित राष्ट्रीय काल्पनिक समुदाय को पहली बार आधुनिकता के ऐतिहासिक ढाँचे में रखते हैं। उन्होंने बताया कि 18वीं शताब्दी के अन्त से, पूंजीवाद, मुद्रण प्रौद्योगिकी और मानव भाषा में परिवर्तन ने संयुक्त रूप से राष्ट्रवादी आन्दोलनों की चार लहरों को बढ़ावा दिया है - अमेरिकी औपनिवेशिक स्वतन्त्रता आन्दोलन, यूरोपीय भाषाई राष्ट्रवाद, यूरोपीय आधिकारिक राष्ट्रवाद, और एशियाई और अफ्रीकी औपनिवेशिक राष्ट्रवाद। एंडरसन के विचार में, अमेरिकी और यूरोपीय अप्रवासियों में राष्ट्रवाद के उदय के अपने जटिल कारण हैं। भटकते अप्रवासी विशिष्ट औपनिवेशिक स्थानों में रहते हैं और अपने देश में अपने यात्रा साथियों के साथ भेदभाव का अनुभव करते हैं। इस प्रकार एक सामान्य जीवन अनुभव और सांस्कृतिक मनोविज्ञान का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर, एशियाई-अफ्रीकी औपनिवेशिक राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद की पिछली तीन लहरों की नकल हैं और इसकी मूल ताकत स्वदेशी बुद्धिजीवी हैं। जिन्हें औपनिवेशिक शक्ति द्वारा शिक्षित किया गया था। आधिपत्य वाले देश में उसी भाषा की शिक्षा और समान वैचारिक ज्ञान की कठिनाइयों ने उन्हें राष्ट्रवाद के एक नये दौर का यात्री बना दिया।

ब्रिटिश समाजशास्त्री गिडेंस ने 'द नेशन-स्टेट एंड वायलेंस' में कहा है कि राष्ट्रवाद अनिवार्य रूप से एक ऐसी घटना है जो 18वीं शताब्दी के अन्त और उसके बाद उभरी है।[20] औपनिवेशिक अभिजात्य वर्ग उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रीय पहचान में प्रमुख शक्ति है, और यह 'राजनीतिक' है। यह जो राजनीतिक है, वह समुदाय की एकता के लिए एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करता है।[21] हालाँकि, राष्ट्र-राज्य एक एकल कल्पित समुदाय नहीं है, यह एक राजनीतिक समुदाय भी है। इसके अलावा, राष्ट्र-राज्य का उत्कृष्ट रूप अमेरिकी औपनिवेशिक राष्ट्र-राज्य नहीं है, बल्कि यूरोपीय राष्ट्र-राज्य है। यूरोपीय राष्ट्र-राज्य ने न केवल बाद के राष्ट्र-राज्यों को अनुकरण करने के लिए एक मॉडल प्रदान किया, बल्कि उपनिवेशित राष्ट्र को यूरोपीय वर्चस्व का विरोध करके एक राष्ट्र-राज्य बनने के लिए प्रेरित भी किया।[22]

फ्रांसीसी विद्वान फैनन ने अपनी पुस्तक 'द रेचेड ऑफ द अर्थ' में उत्तर-औपनिवेशिक हिंसा को पहचान के सन्दर्भ में दार्शनिक स्तर तक ऊपर उठाया। उन्होंने कहा कि उपनिवेशवाद का सार हिंसा है और केवल उत्तर-औपनिवेशिक हिंसा ही औपनिवेशिक शासन को नष्ट कर सकती है। उनके विचार में, शहर के सभी वर्गों के अश्वेत

लोगों को कुछ हद तक पूंजीवादी व्यवस्था पर निर्भर रहना पड़ता है, इसलिए उनमें पूरी तरह से क्रान्तिकारी भावना का अभाव है। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की आत्मा सुस्त है और राष्ट्रवादी पार्टी जनता से अलग हो गई है। इसलिए, काले अफ्रीका की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए, हमें किसान वर्ग पर भरोसा करना चाहिए।[23] यहाँ, फैनन का वर्ग विश्लेषण लगभग माओत्से तुंग के समान है।

उत्तर-औपनिवेशिक राज्य में जातीय प्रवासी विशेष रूप से नस्ल से जुड़े अल्पसंख्यक समूहों को सन्दर्भित करता है, जैसे संयुक्त राज्य में अश्वेत समूह। इस सम्बन्ध में, डु बोइस ने 'द सोल ऑफ द नीग्रो' में दोहरी चेतना की अवधारणा को सामने रखा। उनका मानना था कि अश्वेत अमेरिकियों को अश्वेतों और अमेरिकियों के बीच पहचान के संघर्ष का सामना करना पड़ा। एक अमेरिकी पहचान के काले आन्तरिकीकरण से उत्पन्न होने वाली विशेष कठिनाइयों को व्यक्त करने के लिए शुरू में दोहरी चेतना का उपयोग किया गया था - "एक व्यक्ति कभी भी दोहरापन महसूस करता है, - एक अमेरिकी, एक नीग्रो; दो आत्माएँ, दो विचार, दो अनसुलझे प्रयास; एक काले शरीर में दो युद्धरत आदर्श, जिनकी दृढ़ शक्ति ही इसे छिन्न-भिन्न होने से बचाती है।"[24] ब्लैक अटलांटिक : मॉडर्निटी एंड डुअल कॉन्शियसनेस (1997) में गिलरॉय एक सार्वभौमिक अश्वेत पहचान के अस्तित्व से इनकार करते हैं। उन्होंने प्रस्तावित किया कि प्रत्येक अश्वेत जातीय प्रवासी और अन्य प्रवासी समूहों के बीच समानता और अन्तर का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना आवश्यक है, ताकि अश्वेत पहचान द्वारा निहित कई इतिहासों की खोज की जा सके। एक अन्य पत्र में, उन्होंने बताया कि प्रवासी पहचान एक संकर पहचान है। इसकी आवश्यक विशेषता एक प्रकार का विदेशी संश्लेषण, मिश्रण और लम्बे समय तक अशुद्ध सांस्कृतिक रूपों का क्रमिक गठन है।[25] उन्होंने पाया कि जातीय प्रवासी की पहचान की समस्या का मुख्य कारण आधुनिकता है। आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण पारम्परिक संस्कृति और आधुनिक संस्कृति को जीवन और मृत्यु के लिए लड़ाते हैं और यूरोपीय संस्कृति और औपनिवेशिक देशी संस्कृति एक संकीर्ण तरीके से मिलती है। वे विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक विषम सम्बन्ध बनाते हैं और विभिन्न मौजूदा राजनीतिक, आर्थिक और तकनीकी मुद्दों में उलझे हुए हैं, जो एक गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया में जातीय प्रवासियों के कारण मिश्रित पहचान की समस्या को प्रदर्शित करने के लिए फ्राइडमैन ने अपनी कृति 'कल्चरल आइडेंटिटी एंड ग्लोबल प्रोसेस' में विशेष रूप से जापान में होक्काइडो के ऐनू और संयुक्त राज्य अमेरिका के हवाईयन को उदाहरण के रूप में लिया। उन्होंने पाया कि अधिकांश ऐनू लोगों ने अपनी राष्ट्रीय पहचान को खारिज कर दिया और जापानी संस्कृति में एकीकृत करने की कोशिश की। लेकिन, उन्हें अभी भी जापानी राष्ट्र से बाहर रखा गया था। 1970 के दशक में, उन्होंने अपनी जातीय संस्कृति को उजागर करने के लिए पर्यटन संस्कृति का उपयोग कर अपनी पहचान का पुनर्निर्माण करना शुरू किया, जैसे खाद्य उत्सव आयोजित करना, सार्वजनिक समारोह करना

और पारम्परिक ग्राम समुदायों को पुन: स्थापित करना। संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी तट पर हवाईयन की एक अलग कहानी है। 1892 में द्वीप राजशाही को उलट दिया गया था, और तब से हवाईवासियों की पहचान चीनी, फिलिपिनो और श्वेत सांस्कृतिक तत्वों में प्रवेश कर गई है। 1970 के दशक में उन्होंने उत्तर आधुनिक पर्यटन उपभोग संस्कृति का विरोध करना शुरू कर दिया। अनुकरण संस्कृति के शिकार होने से बचने के लिए, वे वर्तमान में एक गहरे पहचान संकट में हैं।

समकालीन पश्चिमी साहित्यिक आलोचना सांस्कृतिक और संस्थागत आलोचना पर जोर देती है। साथ ही त्वरित पहचान भी नारीवाद, उत्तर-औपनिवेशिकवाद और अन्य आलोचनात्मक विचार सम्प्रदायों की मुख्य सामग्री बन गई है। यह सब साहित्यिक क्लासिक्स को फिर से पढ़ने तथा औपनिवेशिक आधिपत्य और पुरुष-केन्द्रित संस्कृति के गहन विश्लेषण की वकालत करते हैं। साथ ही पहचान के विभिन्न नये मानकों को फिर से स्थापित करने के लिए औपनिवेशिक संघर्षों और लिंग-भेद जनित संघर्ष की कहानियों में दोनों पक्षों के इतिहास को फिर से लिखते हैं। इस क्षेत्र में, अनेक विशिष्ट विशेषताओं के साथ कई समालोचनात्मक उपन्यास देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, केट मिलेट की 1970 में प्रकाशित 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान और साहित्य के दृष्टिकोण से यूरोपीय और अमेरिकी साहित्य में निहित यौन राजनीति की व्यापक रूप से व्याख्या करती है। इस पुस्तक के महत्वपूर्ण मामलों में लॉरेंस, मिलर, मेलर, जीन जेनेट, आदि प्रसिद्ध लेखक शामिल हैं। एडवर्ड सईद की कृति 'कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म' (1993) आधुनिक ब्रिटिश फिक्शन की एक नये परिप्रेक्ष्य के साथ फिर से व्याख्या है। उनकी आलोचना का मुख्य उद्देश्य न केवल डिकेंस और किपलिंग से लेकर कॉनराड और फोस्टर तक के औपनिवेशिक साहित्य के इतिहास को सुलझाना है, बल्कि साम्राज्यवादी राजनीति और संस्कृति के बीच सम्भावित जटिलता को भी प्रकट करना है एवं इस जटिलता के बीच उभर रहे पहचान समीकरणों की परतों को खोलना भी है।

यह देखना अब मुश्किल नहीं है कि साहित्य ने यहाँ तक आते-आते अपनी दृष्टि को व्यापक और उन्मुक्त करते हुए आलोचनात्मक क्षेत्र में कदम रखा है, और अब यह एक बन्द क्षेत्र नहीं है। शास्त्रीय लेखकों के कार्यों को लगातार फिर से पढ़ा और फिर से लिखा जा रहा है, और साहित्यिक आलोचना अब लेखकों के कार्यों तक ही सीमित नहीं है। इसमें साहित्य और संस्कृति, साहित्यिक पाठ और पुनरुत्पादन का वैचारिक तन्त्र, एक विशिष्ट अवधि तन्त्र में साहित्यिक उत्पादन और शक्ति, लेखकों, प्रकाशकों और पाठकों के बीच सम्बन्ध, आलोचना और प्रगति के संस्थानीकरण के बीच तनाव, ज्ञान, मुक्ति और अन्य मानवतावादी आदर्श, वर्ग लिंग, नस्लीय पहचान की राजनीति जो साहित्य और साहित्यिक आलोचना में प्रवेश करती है, आदि जैसे सीमाओं से परे कई मुद्दों को शामिल किया गया है।

हालांकि, समकालीन साहित्यिक आलोचना में पहचान अनुसन्धान, साहित्यिक आलोचना से अलग नहीं है। इसके विपरीत, यह साहित्य और विभिन्न सम्बन्धित मुद्दों की

संस्कृति, विचारधारा और शक्ति जैसे बाहरी दृष्टिकोणों द्वारा फिर से व्याख्या करने का प्रयास करती है। नयी आलोचनात्मक दृष्टि में, कई विचार परस्पर सह-अस्तित्व में हैं, और विभिन्न ग्रन्थों को अन्तर-पाठ्यचरित (इंटरटेक्स्चुअलाइज्ड) किया गया है। एडवर्ड सईद ने इस घटना को अतिव्यापी क्षेत्र, पेचीदा इतिहास (ओवरलैपिंग टेरिटरीज, इंटरट्वाइंड हिस्ट्रीज) कहा है। सवाल यह है कि हम साहित्यिक ग्रन्थों की पहचान और पुनर्व्याख्या के साथ उचित रूप से कैसे शुरूआत कर सकते हैं, ताकि लम्बे समय से दबे हुए इतिहास, मूक अल्पसंख्यक आवाज, विकृत जातीय अनुभव और विभिन्न सीमान्त पहचान के मुद्दों को पाठ में एक-एक करके उजागर किया जा सके। इस मुद्दे पर, सईद के विरोधाभासी पठन (कॉण्ट्रापन्टल रीडिंग) और अल्थुसर के रोगसूचक पठन (सिम्पटोमेटिक रीडिंग) ने हमें दो पहलुओं से दुर्लभ ज्ञान दिया है।

एडवर्ड सईद की काउंटरपॉइंट रीडिंग विधि पहले उनके महत्वपूर्ण संकलन 'द वर्ल्ड, द टेक्स्ट्स एंड द क्रिटिक्स' (1983) में दिखाई दी, और फिर उनके 'कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म' (1993) के माध्यम से दिखाई पड़ती है। इस पर उनका स्वयं एक बयान है कि काउंटरपॉइंट रीडिंग को दो प्रक्रियाओं अर्थात् साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद के प्रतिरोध को ध्यान में रखना चाहिए।[26] इसके अलावा, उन्होंने यह प्रस्ताव भी किया कि पाठ की सामग्री को लेखक द्वारा बहिष्कृत सामग्री के साथ एकीकृत किया जाना चाहिए।[27] एशक्रॉफ्ट ने समझाया है कि सईद का काउंटरपॉइंट रीडिंग वास्तव में उपनिवेश के दृष्टिकोण से एक प्रकार का 'एंटी-रीडिंग' है, और वह एक ही समय में अधिराज और उपनिवेश के दोहरे इतिहास से अवगत है। इस एंटी-रीडिंग का उद्देश्य वैश्विक साम्राज्यवाद के युग में सांस्कृतिक अभ्यास और राजनीतिक अभ्यास के बीच आन्तरिक सम्बन्धों का पता लगाना है। साथ ही यह साम्राज्यवादी राजनीति की साहित्यिक पाठ्यचर्या को प्रकट करना है और साहित्य कैसे साम्राज्यवादी विचारधारा के लेखकों और पाठकों की सामूहिक चेतना को प्रभावित करता है इसको भी उद्घाटित करता है।[28] इस उल्टे काउंटरपॉइंट रीडिंग ने आलोचकों को आलोचनात्मक रवैये के साथ साम्राज्यवादी सत्ता के बहिष्कार में हस्तक्षेप करने और सार्वजनिक बुद्धिजीवियों की आलोचनात्मक भावना को व्यापक रूप से बढ़ावा देने के लिए प्रेरित किया।

सईद के काउंटरपॉइंट रीडिंग से पाठकों को यह पता लगाने में मदद मिलती है कि अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी उपन्यास, कमोबेश, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, जानबूझकर या नहीं, उपनिवेशवादी विस्तार की भावना और एक-एक करके जीतने की इच्छा को पुन: प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक कि उन शुरूआती यात्रा नोट्स, किंवदन्तियों, पत्रिकाओं और गम्भीर साहित्यिक कार्यों के साथ विदेशी रीति-रिवाजों का वर्णन है, जो उपनिवेशवादियों की सांस्कृतिक श्रेष्ठता और यूरोपीय-केन्द्रित चेतना की भावना को उजागर करते हैं। उदाहरण के लिए, शेक्सपियर की कॉमेडी 'द मर्चेंट ऑफ वेनिस' में यहूदी व्यवसायी शर्लक और त्रासदी 'ओथेलो' में काले नायक ओथेलो को जातीय प्रवासी राज्य में मिश्रित पहचान के साहित्यिक

प्रोटोटाइप के रूप में माना जा सकता है। हम 'द मर्चेंट ऑफ वेनिस' में भी पाते हैं कि शेक्सपियर के समय से ही यहूदी-विरोध एक प्रसिद्ध विषय था। प्रसिद्ध नाटक 'द टेम्पेस्ट' में, प्रोस्पेरो, जिसे एक रेगिस्तानी द्वीप में निर्वासित किया गया था, नि:सन्देह एक ब्रिटिश उपनिवेशवादी रॉबिन्सन का प्रोटोटाइप है। यह साहित्यिक आख्यान औपनिवेशिक मुठभेड़ों, सांस्कृतिक संघर्षों और पहचान की परिणामी समस्याओं का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से, 18वीं सदी के ब्रिटिश उपन्यासकार डेफो के 'रॉबिन्सन क्रूसो' से लेकर 20वीं सदी के फोस्टर की 'ए ट्रिप टू इंडिया' और समकालीन भारतीय लेखक रुश्दी की 'द चाइल्ड बॉर्न एट मिडनाइट' तक, अंग्रेजी साहित्यिक क्लासिक्स की इस शृंखला ने संयुक्त रूप से 300 से अधिक वर्षों के उपनिवेशवाद के कारण मास्टर-दास पहचान के इतिहास का निर्माण किया है। उनमें से, फोस्टर का 'हावड्र्स बर्थ' इंग्लैंड में एडवर्डियन युग की व्यापक सामाजिक तस्वीर को केन्द्रित करता है। रिवर्स रीडिंग मेथड की मदद से हमने एक बहु-स्वरीय समवेत गान को सेक्स, जेंडर, क्लास और औपनिवेशिक विजय के साथ गुँथे हुए सुना। उपन्यास में, विलकॉक्स, श्लेगल और बस्टर के तीन परिवार विभिन्न ब्रिटिश वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके पीछे पारम्परिक ग्रामीण इंग्लैंड आधुनिक शहरी साम्राज्य का सामना करता है। विदेशी व्यापार और औपनिवेशिक सैन्य विजय पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण विलकॉक्स परिवार साम्राज्य का मुख्य आधार बन गया। अपने वर्चस्व के तहत, हावर्ड बेयर एक विशुद्ध रूप से ब्रिटिश रूपक नहीं रह गया, यह विधर्म का एक स्थल बन गया और शाही वास्तविकता का एक जटिल रूपक बन गया। कहानी के अन्त तक, श्री विलकॉक्स, श्लेगल बहनें और बस्टर का बेटा एक साथ बड़े और आरामदायक फार्महाउस में रहते थे।यह मत भूलो कि यह विदेशी औपनिवेशिक निवेश और पश्चिम अफ्रीका में रबर के व्यापार से बड़ी धनराशि आती थी जिसने इन लोगों को समृद्धि और गौरव की आर्थिक सुरक्षा प्रदान की।

लक्षणात्मक पठन (सिम्पटोमेटिक रीडिंग), रीडिंग कैपिटल में अल्थुसर के महत्वपूर्ण योगदान को सन्दर्भित करता है। पुस्तक में लक्षणात्मक पठन को दो स्तरों में विभाजित किया गया है। सबसे पहले, एशले का मानना है कि कैपिटल लिखते समय, मार्क्स ने डेविड रिकार्डो और एडम स्मिथ जैसे ब्रिटिश शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों के लक्षणात्मक पठन का प्रदर्शन किया। दूसरा, एशले ने मार्क्स के वैचारिक विकास के लिए तदनुरूपी लक्षणात्मक अध्ययन किया। 1840 से 1844 तक की अवधि मार्क्स के विचारों के विकास का प्रारम्भिक काल था, जब वे हीगल, कांट और फिचटे से अत्यधिक प्रभावित थे। 1845 में मार्क्स ने प्रारम्भिक विचार को तोड़ दिया, जो 'जर्मन विचारधारा' में परिलक्षित होता है। 1857 उनके विचार के विकास के लिए एक संक्रमणकालीन अवधि थी और 1857 के बाद ही मार्क्स के विचार एक परिपक्व अवस्था में प्रवेश कर पाए। एशले का मानना है कि पाठ के स्पष्ट शब्दों के पीछे 'मौन शब्दों' की एक परत छिपी होती है, जैसे चेतना के नीचे अचेतन छिपा होता है। तदनुसार, पठन को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है - एक, लेखक

की आत्मा के मार्गदर्शन में उथला पढ़ना है और दूसरा, पाठ में जान-बूझकर गलतियाँ, विकृतियाँ, रिक्त स्थान और खामोशी ढूँढ़ना, उनकी तुलना स्पष्ट पाठों से करना, और गहन लक्षणात्मक पठन करना है। द थ्योरी ऑफ लिटरेरी क्रिएशन में मार्शल की व्याख्या के अनुसार, लक्षणात्मक पठन का उद्देश्य कार्य, विचारधारा और इतिहास के बीच सम्बन्धों को गहरे स्तर से खोजना है।[29] और लेखक को जानबूझकर अलग-थलग करते हुए, यह अपने आप में गहरे और अधिक जटिल सामाजिक इतिहास के करीब है।

लक्षण पढ़ने की विधि का उपयोग करते हुए, आलोचकों की एक नयी पीढ़ी बड़ी संख्या में गैर-विहित और विहित-विरोधी (एंटी-कैनोनिकल) कार्यों की समीक्षा कर सकती है जिन्हें पश्चिमी साहित्य के इतिहास में भुला दिया गया और उपेक्षित किया गया। उदाहरण के लिए, यूनाइटेड किंगडम में, लॉरेंस स्टोन की 'जियांगडी की जीवनी' है, वह समय अनुक्रम को एक संयोग की तरह उलट देता है। लेखक, चरित्र और पाठक के बीच सम्बन्ध तोड़ता है, और समय से पहले उत्तर-आधुनिकतावादी रचनात्मक तकनीक का प्रयोग करता है। गॉथिक उपन्यास भी हैं जो डरावनी, हिंसा और भूतों को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। फूको ने बताया कि साडे और गोया के बाद से आधुनिक दुनिया में कला के किसी भी काम में तर्कहीनता एक निर्णायक कारक रही है।[30] इस युग में, यूरोपीय साहित्य और कला ने इच्छा को उजागर करने और सृजन के नियमों को साहसपूर्वक आगे बढ़ाने पर जोर दिया, जिसे उस समय के विभिन्न लक्षण माना जा सकता है। कारण जटिल नहीं है - जब पूंजीवाद कारण के नाम पर धर्मनिरपेक्ष जीवन में अपनी पाखंडी नैतिकता को बढ़ावा देता है, तो लोग या तो तर्क की बेड़ियों में जकड़ जाते हैं, या प्रसिद्धि और भाग्य की खोज करते हैं, या इच्छा की तेज चीख में जीवन के आदिम सुख का अनुभव करते हैं।

पहचान की समस्या निरन्तर बनी रहने वाली समस्या है। पश्चिमी बौद्धिक इतिहास के दृष्टिकोण से, यह आधुनिकता का एक उत्पाद है, जो कई दरारों से गुजरा है और विभिन्न प्रतिमानों को प्राप्त किया है। सांस्कृतिक और राजनीतिक अर्थों में, यह दमन और प्रतिरोध के बीच तनाव को दर्शाता है, और उपनिवेशवाद, नारीवाद और अल्पसंख्यक विमर्श जैसे सांस्कृतिक आलोचना स्कूलों की महत्वपूर्ण चेतना और विश्व व्यापार संगठन की चिन्ताओं को मजबूती से उजागर करता है। साहित्यिक आलोचना में पहचान साहित्य, संस्कृति, इतिहास, भाषा आदि के मुद्दों को व्यवस्थित रूप से जोड़ती है। और क्लासिक्स और लोकप्रिय, लालित्य और जनता, तथा जनता और आलोचकों के मुद्दों को आलोचनात्मक दृष्टि में लाता है। इसलिए, हमें कई स्तरों पर सैद्धान्तिक अर्थ और पहचान की आलोचनात्मक प्रकृति को समझना चाहिए, और पूंजीवादी व्यवस्था के तहत आधुनिक लोगों के भाग्य को गतिशील रूप से प्रकट करना चाहिए।

V

समकालीन भारतवर्ष में भी पहचान के प्रश्न पर अनेक जद्दोजहद चल रहे हैं। इनमें एक समकालीन प्रभावी धारा यह मानती रही है कि भारत में पहचान के प्रश्न को औपनिवेशिक सत्ता द्वारा सत्ता के हस्तान्तरण एवं उस हस्तान्तरण की प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया में सहभागी लोगों का प्रभावी समूह भारतीयता का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। इस धारा से ही गाँधी-नेहरू विरासत की आलोचना और पहचान के समाजवादी विमर्शों की आलोचना निकलती है। यह धारा हाल के वर्षों में सत्ता की भागीदारी करते हुए अनेक ऐसे प्रश्नों से रू-ब-रू हो रही है जिनकी सत्ता से बाहर रहते हुए यह एक प्रकार की आदर्शवादी आलोचना करती थी। किन्तु, सत्ता की भागीदारी करते हुए इसने आधुनिकता, औद्योगीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण एवं तकनीकी विकास की उसी प्रक्रिया एवं मार्ग को अपनाया है जिसके प्रति यह आलोचनात्मक रूप से मुखर हुआ करती थी। अब अपने बचाव के लिए यह धारा मल्टीपल मॉडर्निटी के तर्क का सहारा लेती है। जिसमें यह भाव अन्तर्निहित होता है कि आधुनिकता की भी एक भारतीय अवधारणा हो सकती है। इसी कारण यह धारा अतीत के भारत के पुनरुत्थान का लक्ष्य आधुनिकता के समायोजन के साथ लक्ष्य रूप में रखती है। साथ ही इसी लक्ष्य में उसका पहचान का विमर्श भी अन्तर्वलित होता है।

उलेखनीय है कि मल्टीपल मॉडर्निटी के विचार पर ब्योर्न विटट्राक[31] एवं आइसेन्सटेड[32] ने महत्वपूर्ण काम किया है। किन्तु, यह दोनों ही विचारक यह स्थापित करने में विफल रहे हैं कि जब आधुनिकता को लेकर हीगल और मार्क्स की धाराएँ एकमत नहीं हो सकतीं तब मल्टीपल मॉडर्निटी का विचार समायोजन का संवाहक कैसे बन सकता है। वस्तुत: मल्टीपल मॉडर्निटी का विचार जिस तरीके से दुनिया भर में काम कर रहा है उसमें देखने को यह मिलता है कि पश्चिम में उत्पन्न राजनीतिक संस्थाएँ, अर्थव्यवस्था के स्वरूप एवं तकनीक को जब दुनिया के अलग-अलग देशों में अपनाया जाता है तब वे वहाँ भी अपनी जड़ें जमा लेते हैं भले ही इस प्रक्रिया में परम्परागत समाजों को कुछ सांस्कृतिक बदलावों से गुजरना पड़ता हो। यहाँ इस प्रश्न पर विचार करने की जरूरत है कि इन बदलावों के परिणामस्वरूप एक दो शताब्दी के बाद इन समाजों का स्वरूप कैसा होगा? क्योंकि स्वयं यूरोप में आधुनिकता ने जिन पहचानों, संस्कृतियों, भाषाओं, आस्था प्रणालियों, ग्रामीण उद्योगों एवं साव्यवी समाज के मूल्यबोध और आस्था प्रणाली को बदल दिया है, वह रातों-रात की घटना नहीं है। बल्कि इसमें दशकों और शताब्दियाँ बीत गयीं हैं। अपने भारतवर्ष में भी आधुनिकता के कारण पहचान संकट उत्पन्न हो रहे है और लोगों को परम्परागत पेशों को छोड़कर नये व्यावसायों को अपनाना पड़ रहा है। भूमिका परिवर्तन के इस युग की जड़ों को गहरे उतरने में अभी समय लगेगा और इसके परिणाम दो-तीन दशक बाद ही दिखेंगे। बहरहाल, हम जिस अर्थव्यवस्था को अपना रहे हैं उसमें से यदि उपभोक्तावाद को निकल लिया जाये और उसमें अतीत के भारत की मूल्यबोध से जुड़े शुचिता, करुणा, त्याग, अपरिग्रह, अहिंसा इत्यादि को शामिल किया जाये तब क्या हम समाज में माँग उत्पन्न कर पाएँगे?

शायद नहीं, क्योंकि इन मूल्यों से आधुनिक उद्योगों को जीवन-रक्त प्राप्त होने वाली माँग उत्पन्न नहीं की जा सकती। न ही आधुनिकता के साथ पर्यावरण संरक्षण की मूल्यबोध आधारित अतीत के भारत की जीवनशैली समायोजित हो सकती है। किन्तु, पहचान आधारित आज का भारतीय विमर्श इन विरोधी लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त करने का दावा कर रहा है। आँकड़ों के आधार पर जब यह दावे विफल होते हैं तब यह तर्क दिया जाता है कि अभी यह शुरूआती दौर का ही रुझान है और आगे चलकर 2050 तक इस लक्ष्य को जरूर हासिल कर लेंगे। किन्तु, 2050 में न तो यह दुनिया ऐसी रह जाएगी और न ही हमारा भारतवर्ष।

पहचान संघर्ष के भारतीय विमर्शों में सवर्ण बनाम पिछड़ी जातियाँ, पितृसत्तात्मक पुरुष पहचान बनाम नारीवादी लिंगभेद रहित पहचान, राष्ट्रीय बनाम क्षेत्रीय पहचान, बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक पहचान तो शामिल हैं ही, हाल के वर्षों में इसमें कट्टर हिन्दू बनाम उदार हिन्दू पहचान भी सम्मिलित होती जा रही है। पहचान के इन प्रतिरोधी दावों के बीच पहचान समायोजन की प्रक्रिया भी गतिशील है। इस गतिशीलता को जो तत्व सबसे अधिक प्रकट करता है वह है वंचित एवं पिछड़ी जातियों का प्रतिनिधित्व, पुनर्वितरण एवं प्रतिष्ठा की राजनीति में भाग लेने के लिए परम्परागत दलों को छोड़कर भारतीय जनता पार्टी की ओर अग्रसर होना। आज का यह समीकरण एक ऐसा समीकरण है जिसमें राम से अपनी आस्था की पहचान को जोड़ने वाला समूह भी शामिल है और राम को अपनी आस्था के पहचान में शामिल न करने वाले ज्योतिबा फुले एवं आम्बेडकर मार्गी भी शामिल हैं। पहचान की धर्मनिरपेक्षता आधारित धारा कमजोर पड़ रही है और राष्ट्रवादी पहचान की राजनीतिक सक्रियता बढ़ रही है। पहचान की राजनीति आगे चलकर किस करवट बैठेगी यह इन्हीं प्रवृत्तियों की सफलता और विफलता पर निर्भर करती है। किन्तु, पहचान के इन सभी विमर्शों में पहचान का वेदान्तिक विमर्श गायब है जिसमें 'अहम् ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' की शिक्षा दी गयी है। वैश्विक सन्दर्भ में कहें तो आज भी पहचान किसी न किसी समग्रतावादी दावे पर ही आधारित होती है किन्तु यह समग्रता सर्वसमावेशी नहीं होती है बल्कि उस तरह की होती है जिसे लेविनास ने टोटालिटी कहा है। यानि की पहचान की राजनीति में जो टोटालिटी का विचार होता है उसका मुँह किसी न किसी अन्य की ओर ही खुला रहता है।

सन्दर्भ

1. विश्वनाथ मिश्र (2019), *पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 12-26.
2. मिल, जे.एस. (1900), *अ सिस्टम ऑफ लॉजिक*, लन्दन, लोंगमान एंड ग्रीन कम्पनी.
3. वाल्ज़र, माइकल (1990), 'द कम्यूनिटेरियन क्रिटिक ऑफ लिबरलिज्म', *पोलिटिकल थ्योरी*, भाग 18, अंक 1, पृ. 6-23.
4. हैबरमास, जुरगेन (1984), *अ थ्योरी ऑफ कम्युनिकेटिव रेशनेलिटी*, बोस्टन, बेकनप्रेस.
5. सार्त्र, ज्यां पाल (2018), *बीइंग एंड नथिंगनेस*, न्यू यॉर्क, रूटलेज.

6. किमलिका, विल (1990), *कंटेम्परेरी पोलिटिकल फिलोसोफी : एन इंट्रोडक्शन*, ऑक्सफोर्ड, कैलेरैंडन प्रेस, पृ. 215.

7. रॉल्स, जॉन (1971), *अ थ्योरी ऑफ जस्टिस*, मेसाचुसेट्स, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 123-125.

8. रॉल्स, जॉन (1971), *अ थ्योरी ऑफ जस्टिस*, मेसाचुसेट्स, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 65-72.

9. यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि स्वयं हॉब्स, लॉक या रूसो पहचान की समस्या पर एक ऐसे तकाजे के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे थे जैसी की चर्चा आज होती है। यहाँ जो विश्लेषण प्रस्तुत है वह इन लेखकों के विचारों के अलोक में पहचान को समझने के बिन्दुओं को उजागर करने का एक प्रयास है।

10. क्लार्क, माइकल एवं टिलमैन, रिक (1988), 'सी.बी. मैक्फर्सन कॉन्ट्रिब्यूशन्स टू डेमोक्रेटिक थ्योरी', *जर्नल ऑफ इकोनॉमिक इश्यूज*, भाग 22, अंक 1, पृ. 181-196.

11. मर्क्युज, हर्बर्ट (2007), *वन-डायमेंशनल मैन : स्टडीज इन द आइडियोलॉजी ऑफ एडवांस्ड इंडस्ट्रियल सोसाइटी*, न्यू यॉर्क, रूटलेज क्लासिक्स, पृ. 3-20.

12. क्लार्क, माइकल (1997), 'कांट्स रिटोरिक ऑफ एनलाइटनमेंट', *द रिव्यु ऑफ पॉलिटिक्स*, वॉल्यूम 59,अंक 1, पृ. 56-59.

13. हीगल (1977), *फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट*, अनुवादक - ए.वी. मिलर, ऑक्सफोर्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 127-128.

14. हॉल, स्टुअर्ट, (1991), 'द क्वेश्चन ऑफ कल्चरल आइडेंटिटी', इन *मॉडर्निटी एंड इट्स फ्यूचर*, (सम्पादित), एस. हॉल, डी. हेल्ड और टी. मैकक्रू, कैम्ब्रिज, पोलिटी प्रेस, पृ. 275.

15. हॉल, स्टुअर्ट, (1991), 'द क्वेश्चन ऑफ कल्चरल आइडेंटिटी', इन *मॉडर्निटी एंड इट्स फ्यूचर*, (सम्पादित), एस. हॉल, डी. हेल्ड और टी. मैकक्रू, कैम्ब्रिज, पोलिटी प्रेस, पृ. 277.

16. लैरेन, जॉर्ज (1994), *आइडियोलॉजी एंड कल्चरल आइडेंटिटी*, कैम्ब्रिज, पोलिटी प्रेस, पृ. 149.

17. कांट, इमैनुएल (2012), 'फिजिकल जियोग्राफी' (1802), वाटकिंस (सम्पादित), *कांट : नेचुरल साइंस (द कैम्ब्रिज एडिशन ऑफ द वर्क्स ऑफ इम्मानुएल कांट*, पृ. 434-679), कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 576.

18. करेल, डी.एफ. (2000), 'द बॉडीज ऑफ ब्लैक फोक : फ्रॉम कांट एंड हीगेल टू डू बोइस एंड बाल्डविन', *बाउंड्री 2*, वॉल्यूम 27, अंक 3, पृ. 103-134.

19. हाल, स्टुअर्ट (1996), 'ग्राम्सी रिलेवेंस फॉर द स्टडी ऑफ रेस एंड एथनिसिटी', स्टुअर्ट हाल द्वारा सम्पादित, डी. मोर्ले एंड डी.के. चेन, लन्दन, रूटलेज, पृ. 446.

20. गिडेंस, एंथनी (1987), *द नेशन-स्टेट एंड वायलेंस*, वॉल्यूम 2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृ. 119.

21. गिडेंस, एंथनी (1987), *द नेशन-स्टेट एंड वायलेंस*, वॉल्यूम 2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृ. 273.

22. गिडेंस, एंथनी (1987), *द नेशन-स्टेट एंड वायलेंस*, वॉल्यूम 2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृ. 269.

23. गिडेंस, एंथनी (1987), *द नेशन-स्टेट एंड वायलेंस*, वॉल्यूम 2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृ. 124-25.

24. गिलरॉय, पॉल (1993), *द ब्लैक अटलांटिक*, मैसाचुसेट्स : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 126.

25. गिलरॉय पॉल (1997), 'डायस्पोरा एंड द डिटोरस ऑफ आइडेंटिटी', इन *आइडेंटिटी एंड डिफरेंस*, के. वुडवुड द्वारा सम्पादित, लन्दन, सेज पब्लिकेशंस, पृ. 335.

26. सईद, एडवर्ड (1993), *कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म,* न्यू यॉर्क, विंटेज बुक्स, पृ. 66.

27. सईद, एडवर्ड (1993), *कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म,* न्यू यॉर्क, विंटेज बुक्स, पृ. 67.

28. एशक्रॉफ्ट, बिल और अहलूवालिया पाल (1999), *एडवर्ड सईद,* लन्दन, रूटलेज, पृ. 92-96.

29. स्टोरी, जॉन (2021), *कल्चरल थ्योरी एंड पॉपुलर कल्चर : एन इंट्रोडक्शन,* (9वाँ संस्करण), रूटलेज, पृ. 165.

30. फौकॉल्ट, माइकल (2006), *मैडनेस एंड सिविलाइजेशन,* न्यू यॉर्क, विंटेज बुक्स, पृ. 266.

31. विटटॉक, ब्योर्न (2000), 'वन, नन और मेनी? यूरोपियन ओरिजिन्स एंड मॉडर्निटी एज अ ग्लोबल कंडीशन', *डेडलस,* भाग 129, अंक 1, पृ. 31-60.

32. आइसेन्सटेड, एस.एन. (2000), 'मल्टीपल मॉडर्निटीज', *डेडलस,* भाग 129, अंक 1, पृ. 1-29.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 24-29)

हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र में भारत-चीन सामुद्रिक प्रतिद्वन्द्विता

राजीव रौशनकुमार*

हिन्द और प्रशान्त महासागर को पृथक्-पृथक् इकाई के रूप में बाँटना सम्भव नहीं है, इंडो-पेसिफिक की अवधारणा में समूचे हिन्द महासागरीय क्षेत्र और पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र को मिलाया जाता है। वहीं अमेरिका इंडो-पेसिफिक क्षेत्र को भारत के पश्चिमी तट तक ही विस्तृत मानता है, लेकिन भौगोलिक रूप से हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के कुछ भागों को जोड़कर जो समुद्री हिस्सा बनता है इंडो-पेसिफिक क्षेत्र कहलाता है और इस समुद्री क्षेत्र में पड़ने वाले देशों को हिन्द-प्रशान्त महासागर के देश कहते हैं।

हाल के वर्षों में हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र रणनीतिक और कूटनीतिक रूप से क्षेत्रीय और वैश्विक महाशक्तियों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता का एक मंच बन चुका है जिसका प्रमुख कारण हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र की महत्वपूर्ण अवस्थिति होना है। समकालीन समय में सम्पूर्ण विश्व व्यापार का लगभग 75 प्रतिशत वस्तुओं और सेवाओं का आयात-निर्यात इसी क्षेत्र से होता है, जो पूरे विश्व की जीडीपी का लगभग 60 प्रतिशत है। इंडो-पेसिफिक क्षेत्र ऊर्जा और

*शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी (उत्तरप्रदेश).
E-mail: rajeevgne@gmail.com

व्यापार-वाणिज्य को लेकर उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों देशों के लिए बहुत ही संवेदनशील है। चीनी सरकार इस क्षेत्र में अपनी महत्पूर्ण नीतियों को क्षेत्रीय और वैश्विक आयाम प्रदान करने का भरपूर प्रयास कर रही है। मैरिटाइम सिल्क रूट, स्ट्रिंग ऑफ पर्ल, बेल्ट रोड इनीशिएटिव आदि नीतियाँ चीन की इसी व्यापक रणनीति और कूटनीति का भाग हैं। वहीं अमेरिका भी इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाए रखना चाहता है ताकि चीन के इस क्षेत्र में बढ़ते हुए प्रभाव को कम किया जा सके। इसके लिए भारत, जापान, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया ने संयुक्त रूप से अनौपचारिक रणनीतिक वार्ता के रूप में 'क्वाड' का गठन किया है। वर्तमान में विश्व के अधिकांश देश अपनी सुविधा के अनुसार हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र की व्याख्या करते हैं। हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र के महत्व को रेखांकित करते हुए भारत के विदेश मन्त्री एस. जयशंकर का कहना है कि हिन्द और प्रशान्त महासागर को पृथक्-पृथक् इकाई के रूप में बाँटना सम्भव नहीं है, इंडो-पेसिफिक की अवधारणा में समूचे हिन्द महासागरीय क्षेत्र और पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र को मिलाया जाता है। वहीं अमेरिका इंडो-पेसिफिक क्षेत्र को भारत के पश्चिमी तट तक ही विस्तृत मानता है, लेकिन भौगोलिक रूप से हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के कुछ भागों को जोड़कर जो समुद्री हिस्सा बनता है इंडो-पेसिफिक क्षेत्र कहलाता है और इस समुद्री क्षेत्र में पड़ने वाले देशों को हिन्द-प्रशान्त महासागर के देश कहते हैं।

सन् 2018 में 'शांग्री-ला संवाद' के दौरान प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी ने इंडो-पेसिफिक क्षेत्र की अवधारणा को स्पष्ट किया और उन्होंने भारत के इंडो-पेसिफिक क्षेत्र के विचार में पूर्वी अफ्रीका से अमेरिका तक के क्षेत्र को शामिल किया था, जो हिन्द तथा प्रशान्त महासागर को अपनी परिधि में शामिल करते हैं। भारत का कहना है - "हिन्द-प्रशान्त की अवधारणा एक खुला, स्वतन्त्र और मुक्त और सामावेशिता तथा आसियान देशों के केन्द्र पर आधारित है, जो सम्पूर्ण विश्व के किसी भी देश के खिलाफ नहीं है। भारत इंडो-पेसिफिक क्षेत्र को एक संकुचित सदस्यों के प्रमुख क्लब के रूप में नहीं देखना चाहता है और न ही ऐसे गुट के तौर पर जो वर्चस्व चाहता है, भारतीय प्रधानमन्त्री मोदी ने यह स्पष्ट कहा था कि "भारत की हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र में अपनी नीति, चीन को प्रति सन्तुलित करने के लिए नहीं है, बल्कि इस क्षेत्र के लिए भारत हमेशा सकारात्मक सोच रखता है जिसमें आसियान को केन्द्र में रखते हुए दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों को अहम् माना गया है, लेकिन इस क्षेत्र को लेकर भारत की विदेश नीति समुद्री क्षेत्रों से संचालित हो रही है और 'सागर पहल' द्वारा इस क्षेत्र में स्थिरता तथा सुरक्षा पर मुख्य रूप से जोर दिया जा रहा है और हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र में भारत 'सागरमाला परियोजना', 'मौसम परियोजना', हिन्द महासागर तक पहुँच की नीति के साथ बिमस्टेक देशों के मध्य सम्बन्धों पर मुख्य रूप से जोर दे रहा है। जिसके तहत भारत अपनी समुद्री तटीय आधारभूत संरचना को सुदृढ़ करने के साथ-साथ ब्लू इकोनॉमी के मुख्य लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है और भारत, चीन को इस क्षेत्र में प्रति सन्तुलित करने के लिए क्वाड जैसे अनौपचारिक संगठन का सहारा ले रहा है।

हिन्द-प्रशान्त देशों के लिए चीन हमेशा से एक बड़ा खतरा रहा है, वह इंडो-पेसिफिक क्षेत्र में भारत के प्रमुख हितों के लिए भी खतरा उत्पन्न कर रहा है, चीन विश्व के समुद्रिक व्यापारिक मार्गों पर 'मैरिटाइम सिल्क रूट' के द्वारा समुद्री मार्गों पर का निर्माण करता जा रहा है, जो एशिया और अफ्रीका के बन्दरगाहों को जोड़ता है। दूसरी ओर 'बेल्ट रोड इनीशिएटिव' के द्वारा एशिया, अफ्रीका तथा यूरोपीय देशों तक अपनी पहुँच बना रहा है। भारत के लिए यह चिन्ता का विषय है कि चीन इस मार्ग का प्रयोग भारत के सामरिक और आर्थिक सुरक्षा हितों के विरोध में कर सकता है, उदाहरणस्वरूप इस रोड की एक प्रमुख परियोजना 'चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा' (सीपैक) भारत की सम्प्रभुता तथा अखंडता के लिए चुनौती है। भारत सामरिक और आर्थिक रूप से हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र में अपनी पहुँच के लिए स्ट्रिंग ऑफ पर्ल की नीति अपना रहा है जिसमें म्याँमार के सातवें, बांग्लादेश के चटगाँव, श्रीलंका के हम्बनटोटा, मालदीव के मराओ तथा पाकिस्तान के ग्वादर बन्दरगाह को भी शामिल किया गया है। जिस पर चीन ने सामरिक और रणनीतिक रूप से अपना प्रभाव मजबूत किया है, चीन-भारत के पड़ोसी देशों में पकिस्तान, श्रीलंका और बांग्लादेश को सैन्य सामग्री और युद्धपोत आदि की पूर्ति करता रहता है, जो 'सैन्य उपनिवेशवाद' का ही रूप है। इस तरह चीन दक्षिण-चीन सागरीय क्षेत्र में कई छोटे-बड़े कृत्रिम द्वीपों का निर्माण कर क्षेत्रीय एवं वैश्विक चुनौतियाँ उत्पन्न कर रहा है जो हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र में समुद्री प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ावा दे रही है।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि चीन ने कुछ वर्षों के दौरान हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र के देशों के साथ अपने आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्ध काफी मजबूत कर लिए हैं। चूंकि चीन अन्य देशों के साथ 'प्रत्यक्ष विदेशी' के मामले में दुनिया में सबसे आगे है इसलिए इसका प्रभाव हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र पर भी दिखाई देता है। चीन एवं दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के मध्य 'प्रत्यक्ष विदेशी निवेश' का आदान-प्रदान भारत द्वारा इस क्षेत्र में किए जाने वाले 'प्रत्यक्ष विदेशी निवेश' की तुलना में कहीं अधिक है। पिछले कई वर्षों के दौरान चीन ने अपनी महत्वाकांक्षी परियोजना बेल्ट रोड इनीशिएटिव (बीआरआई) के विस्तार के जरिए इस क्षेत्र में अपने आर्थिक एवं राजनीतिक नेटवर्क को काफी बढ़ा दिया है, जबकि बीआरआई के बारे में अक्सर यही कहा जाता है कि इसके तहत मदद पाने वाले ज्यादातर देश लम्बे समय के लिए कर्ज के जाल में फँस जाते हैं, यह बात दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों और अफ्रीका के कई देशों के लिए बड़ा मामला रहा है, और भारत का समुद्री दृष्टि से सबसे नजदीकी पड़ोसी श्रीलंका भी इस कर्ज कूटनीति के जाल में उलझ चुका है।

समुद्री प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता के प्रारम्भ होने से भारत के समक्ष आतंकवाद, समुद्री संचरण मार्गों की सुरक्षा, समुद्री तटों की सुरक्षा आदि प्रमुख समस्याओं के रूप में है। वैश्विक एवं क्षेत्रीय परिदृश्य में एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ ने विश्वयुद्ध की ओर अग्रसर किया है, समय रहते यदि चीन की महत्वाकांक्षा पर नियन्त्रण नहीं पाया गया तो वैश्विक जंग का मार्ग प्रशस्त होगा। भारत के पूर्व प्रधानमन्त्री नरसिंहा राव के समय 1991 में

'लुक ईस्ट नीति' को भारत की विदेश नीति का प्रमुख आधार बनाया, तभी से भारत दक्षिण-पूर्व एशिया क्षेत्र के देशों के मध्य आर्थिक एवं सैन्य सम्बन्ध लगातार बढ़ा रहा है। भारत ने इस क्षेत्र के अन्य देशों के साथ पहल कर मेंकांग गंगा को-ऑपरेटिव फोरम बनाया है। इसके अन्तर्गत इस क्षेत्र के देशों को राजमार्ग द्वारा जोड़ा गया है। भारत के पूर्व विदेश मन्त्री जसवन्त सिंह ने आसियान वार्षिक सम्मेलन में कहा था कि रणनीतिक तथा सुरक्षा सम्बन्धी मामलों पर इस क्षेत्र में भारत का महत्व बढ़ रहा है तथा क्षेत्रीय शान्ति एवं स्थिरता के प्रति प्रतिबद्धता को समझा जा रहा है। वर्ष 2002 में थाईलैंड में एशियाई देशों के 17 विदेश मन्त्रियों ने एक नया पूर्व एशिया कॉर्पोरेशन डायलॉग गठित किया जिसमें भारत के पूर्व विदेश मन्त्री जसवन्त सिंह शामिल हुए थे। इन्होंने चार क्षेत्रों में और अधिक आपसी सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया था। ये क्षेत्र हैं - यातायात और संचार, विज्ञान एवं तकनीकी, मानव संसाधन, एवं ऊर्जा क्षेत्र।

चीन की दक्षिण एशियाई मार्गों की राजनीति एवं कूटनीति में प्रमुख भूमिका अदा करने के कारण इस क्षेत्र में सामरिक आर्थिक विकास, सैन्य क्षेत्र का निर्माण, राजनीतिक पहुँच तथा सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा दिया है। चीन अपने गैस व तेलों की आपूर्ति को सुरक्षित करने के लिए पाकिस्तान, म्याँमार व थाईलैंड के भू-स्थल मार्गों से पाइप लाइनों के निर्माण में बहुत सक्रिय है, इसलिए बीजिंग तेल के विशाल भंडार का निर्माण करने के लिए दो सामरिक गलियारों की योजना पर काम कर रहा है। ये गलियारे भारत के दोनों ओर से गुजरते हैं। जिसमें एक गलियारा बंगाल की खाड़ी से लगभग 800 कि.मी. की दूरी तय कर म्याँमार के पास से होता हुआ दक्षिण चीन तक पहुँचता है। इस गलियारे का निर्माण होने से चीन की पहुँच भारत के दक्षिण-पश्चिम समुद्र तट तक हो जाएगी। वहीं दूसरा गलियारा पाकिस्तान में चाइना द्वारा निर्माणाधीन ग्वादर बन्दरगाह से काराकोरम पर्वत श्रृंखला से होते हुए चाइना के शिनजियांग प्रान्त तक पहुँचता है, इसके माध्यम से वह फारस की खाड़ी और अफ्रीका से आने वाले गैस व तेल की आपूर्ति सुचारू रखना चाहता है और भारत के पड़ोस के देशों में चीन पाँव पसार कर भारत पर चौतरफा दबाव बनाना चाहता है। चीन के ब्लू घेरे के केन्द्र में उर्जा निर्भरता और व्यापार-वाणिज्य के प्रमुख स्रोतों की सुरक्षा हेतु इंडो-पेसिफिक क्षेत्र में समुद्री संचरण रेखाओं की प्रगति और सुरक्षा महत्वपूर्ण है। जिसका मुख्य लक्ष्य संसाधनों के परिवहन पर खर्च होने वाले भाड़े को कम करना और अमेरिकी दबाव वाले समुद्री मार्गों से अपने को बचाना है।

इंडो-पेसिफिक महासागरीय क्षेत्र में भारत की सामरिक तथा आर्थिक गतिविधियों ने बिजींग के साथ संघर्ष को गति दी है। यद्यपि भारत के लिए दक्षिण-चीन सागर क्षेत्र कई मायनों से महत्वपूर्ण है, भारत के कुल व्यापार-वाणिज्य का लगभग 55 प्रतिशत दक्षिण-पूर्व एशिया से होता है, दक्षिण-चीन सागर क्षेत्र सम्पूर्ण एशिया का सबसे विवादित क्षेत्र है और भारत इस क्षेत्र में वियतनाम से समझौता कर तेल और खनन खोज का कार्य कर रहा है जिसकी वजह से चीन ने इस क्षेत्र में अपनी प्रभुसत्ता की बात करते हुए भारत को इस क्षेत्र से हटने के बात कही

है। चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा भारत व पाकिस्तान के मध्य है, जिसमें चीन के हस्तक्षेप के प्रति भारत ने भी अपनी अपत्ति समय-समय पर दर्ज की है, यह क्षेत्र भारत का है, जिसे पाकिस्तान ने अवैध रूप से अपने कब्जे में ले रखा है, जिसे पाक अधिकृत कश्मीर कहा जाता है। चीन को इस क्षेत्र में गलियारा निर्माण करने के पूर्व भारत से सहमति लेनी चाहिए थी।

इंडो-पेसिफिक क्षेत्र में चीन-भारत समुद्री प्रतिद्वन्द्विता को सुरक्षा दुविधा के यथार्थवादी सैद्धान्तिक आयाम से देखने का प्रयास करता है, जिसमें भारत-चीन किसी के माध्यम से अपने हितों को सुरक्षित करने का प्रयास दूसरे के द्वारा अपनी असुरक्षा के रूप में देखते हैं। यह शक्ति प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष का कारण हो सकता है, इसके अतिरिक्त भारत चीन आर्थिक विस्तार और गतिविधियों का भी परीक्षण किया जाए तो जहाँ भारत स्वतन्त्र, मुक्त, खुले और समावेशी हिन्द-प्रशान्त क्षेत्र में बढ़ावा देते हुए उदारवाद की नीति का प्रवर्तक दिखाई पड़ता है, वहीं चीन कहीं अधिक संरक्षणवादी नजर आता है। यदि हम इंडो-पेसिफिक क्षेत्र में सुरक्षा व्यवस्था और शान्ति की खोज में भारत-चीन की भूमिका का गहन विश्लेषण करें तो यहाँ भारत अपने साझा विश्वासों और पहचान में चीन की आक्रामकता के विपरीत और आसियान देशों के अधिक नजदीक दिखाई पड़ता है, जिन्हें सामाजिक संरचनावाद के सैद्धान्तिक आयाम से देखा जा सकता है। इसी आधार पर इंडो-पेसिफिक क्षेत्र में नियम आधारित व्यवस्था की स्थापना में क्षेत्रीय शक्तियों के नेतृत्वकर्ता शक्ति के रूप में भारत की भूमिका का गहन विश्लेषण किया जा सकता हैं।

वैश्विक प्रतिस्पर्धा में चीन अपनी तुलना भारत के साथ करना नहीं पसन्द करता है तो वहीं भारत भी अपनी तुलना पाकिस्तान के साथ करना नहीं पसन्द करता, जबकि अमेरिका अपनी तुलना चीन के साथ करने को नजर अन्दाज करता है और अमेरिका प्रथम की बात करता है। जिसका मुख्य कारण अमेरिका अपनी प्रख्यात वैश्विक स्थिति को बनाए रखना चाहता है। इस प्रकार कोई भी देश अपनी सर्वोच्चता के साथ समझौता नहीं करना चाहता है।

समकालीन समय में भारतीय विदेश नीति वैश्विक समुदाय के साथ सार्थक सम्बन्ध को आगे बढ़ाते हुए उसे मजबूती प्रदान करना चाहती है ताकि सम्प्रभुता, राष्ट्रीय सुरक्षा एवं आर्थिक बदलाव और भौगोलिक एकता सहित अपने लक्ष्यों को सुनिश्चित करने के साथ ही अपनी मुख्य वैश्विक एवं क्षेत्रीय चिन्ताओं का निदान कर सके। भारत ने अपने सभी पड़ोसी और बिमस्टेक देशों के मध्य सम्पर्क जोड़ने करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ

दास, पुष्पिता (2013), *कोस्टल सिक्योरिटी : द इंडियन यूप्रिएन्स,* आयडीएसए, नई दिल्ली, मोनोग्राफ सिरीज नं. 22.

दत्त, बी.पी., *बदलती दुनिया में भारत की विदेश नीति (भाग-2) 1997 के उपरान्त,* हिन्दी कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली.

हरिशरण और सिन्हा, हर्ष कुमार (2012), *हिन्द महासागर : चुनौतियाँ एवं विकल्प,* प्रत्युष पब्लिकेशन, नई दिल्ली.

कौशिवा, प्रदीप एवं सिंह, अभिजीत (2014), *जियोपोलिटिक्स ऑफ द इन्डो एंड पेसिफिक,* नॉलेज वर्ल्ड पब्लिशर, नई दिल्ली

खुराना, गुरप्रीत एस. एवं सिंह, अन्तरा घोषाल (2016), *इंडिया एंड चाइना : कन्स्ट्रक्टिंग ए पीसफुल ऑर्डर इन इंडो एंड पेसिफिक,* नेशनल मेरिटाइम फाउन्डेशन, नई दिल्ली.

मलिक, मोहन (2011), *चाइना एंड इंडिया : ग्रेट पॉवर राइवल्स,* फर्स्ट फोरम प्रेम, यूएसए.

पांडे, आर.एस. (2013), 'चीन की समुद्रिक महत्वकांक्षाएं एवं भारतीय सुरक्षा : एक मूल्यांकन', *प्रतियोगिता दर्पण,* जून.

राजामोहन, सी. (2013), *समुन्दर मन्थन : साइनो एंड इंडिया राइवलरी इन द इंडो पेसेफिक,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

तारादेवी, *हिन्द महासागर एवं संलग्न राष्ट्र : एक भू-आर्थिक एवं भू-सामरिक अध्ययन,* उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 30-36)

स्वच्छता पर गाँधीवादी दृष्टिकोण

गुलशन कुमार*

स्वच्छता को लेकर महात्मा गाँधी समाज के सम्मुख व्यावहारिक पक्ष को रखते हैं। गाँधी ने स्वच्छता को स्वास्थ्य के साथ जोड़कर देखा। स्वस्थ शरीर से स्वस्थ मन के विषय को प्रबलता के साथ रखा। सम्प्रति स्वच्छ भारत अभियान गाँधी के उस सरोकार को समकालीन सन्दर्भों में देखते हुए आगे बढ़ाये जाने वाली महत्वपूर्ण पहल है। प्रस्तुत आलेख स्वच्छता के गाँधीय दृष्टिकोण की समीक्षा को वर्तमान सन्दर्भ में आलोकित करने का प्रयास करता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के दृष्टिकोण को यदि हम स्वच्छता सम्बन्धी विचारधारा में देखें और उसे यदि समाज में कार्यान्वित करने का प्रयास करें तो गाँधी के अनुसार साफ-सफाई, भगवान् की उपासना करने के समान है। इसके बारे में गाँधी ने समाज में अपना सन्देश दिया। उनका सपना था कि भारत को एक 'स्वच्छ भारत' बनाया जाये जिसके अन्तर्गत भारत के सभी नागरिक मिलकर भारत को स्वच्छ बनाने का कार्य करें। यदि हम इस अभियान (स्वच्छ भारत अभियान) को देखें तो इसकी जड़ें बहुत पुरानी हैं।

स्वच्छता देवत्व के निकटतम है जब यह बात सामने आती है तो प्रमुख रूप से महात्मा गाँधी उस धारणा के सबसे बड़े प्रवक्ता के रूप में समाज के सामने आते हैं। गाँधी के

*शोधकर्ता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, गलगोटिया विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा (उत्तरप्रदेश)
E-mail: gulshan.du.ps@gmail.com

अनुसार इस बात को समझने के लिये हमें उनकी मानव के प्रति मूल भावना को समझना पड़ेगा। गाँधी के अनुसार मानव मूलत: व्यक्ति होता है और हर व्यक्ति के आत्मा में परमात्मा का अंश होता है। गाँधी उपर्युक्त बात बड़े ही साधारण तरीके से तथा व्यावहारिक तौर पर समझते थे। गाँधी इस मान्यता के आदर्श व्यक्ति थे उनका कहना था कि यदि कोई व्यक्ति स्वच्छ नहीं होगा तो स्वस्थ नहीं हो सकता। स्वस्थ शरीर से ही स्वस्थ मनोदशा का विकास होगा।

गाँधी स्वच्छता को सिर्फ व्यक्तिगत सिद्धान्त के आधार पर ही नहीं देखते थे बल्कि इसमें एक सामाजिक अवधारणा के साथ जोड़ते थे।

2 अक्टूबर 2014 को स्वच्छ भारत अभियान शुरू किया गया और इस अभियान को सफल बनाने के लिये भारत के सभी नागरिकों को इस अभियान से जुड़ने के लिए प्रेरित किया गया। इस अभियान का उद्देश्य पाँच वर्ष में स्वच्छ भारत अभियान - जो गाँधी का एक सपना था - को पूरा कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है। ताकि महात्मा गाँधी की 150वीं जयन्ती पर इस स्वच्छ भारत मिशन को लक्ष्य प्राप्ति के रूप में मनाया जा सके।

जब इस अभियान की शुरूआत वर्ष 2014 में की गई तो उस समय इस आन्दोलन के प्रचार-प्रसार के लिये देश की बड़ी-बड़ी हस्तियों को इस अभियान से जुड़ने को कहा गया, जिसमें मुख्य हैं - मृदुला सिन्हा, बाबा रामदेव, शशि थरूर, सलमान खान, आदि। इस अभियान को सोशल मीडिया से भी पूरी तरह जोड़ दिया गया। देश के नागरिकों से सफाई अभियान के लिये सहयोग की अपेक्षा की गई और नागरिकों को इससे पूरी तरह जोड़ा भी गया। सोशल मीडिया पर #Mycleanindia लिखकर लोगों के विचारों को देश के सामने इस अभियान के लिये साझा करने हेतु कहा गया।

स्वच्छ भारत अभियान को हरित भारत की अवधारणा के साथ जोड़ना

यदि हम स्वच्छ भारत अभियान को देखें तो लोगों को इसका अभिप्राय समझ आता है केवल साफ-सफाई, कूड़ा-करकट को साफ करने से। परन्तु इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है बल्कि इससे कहीं ज्यादा है। स्वच्छ भारत अभियान को हरित भारत की अवधारणा के साथ जोड़ते हुए इसमें देश में पेड़-पौधे लगाना, कचरा मुक्त वातावरण बनाना और खुले में शौच को रोककर एक स्वच्छ वातावरण के भारत का निर्माण करना है। क्योंकि यदि हम देखें तो जो पर्यटक भारत में भ्रमण के लिये आते हैं तो भारत का अस्वच्छ वातावरण एक शर्मिन्दगी की वजह बनता है।

क्लीन इंडिया गाँधीवादी अवधारणा

क्लीन इंडिया की अवधारणा को मुख्यत: गाँधी द्वारा समाज के सामने लाया गया। देश के कई सामाजिक संगठन जो निजी क्षेत्रों और सरकारी क्षेत्रों में रहे हैं सफाई का कार्य कर रहे हैं। महात्मा गाँधी ने जब सफाई अभियान शुरू किया था तो वो इस सफाई अभियान के

लिये सभी गलियों/बस्तियों/कॉलोनियों में नहीं गये थे परन्तु लोगों की उनके प्रति ऐसी श्रद्धा थी कि लोगों ने अपने-अपने मोहल्लों, गलियों, कॉलोनियों की सफाई स्वयं से करना शुरू किया और 'स्वच्छ भारत' अभियान में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।

शहरी क्षेत्रों के लिये स्वच्छ भारत मिशन तथा सरकार और नागरिकों में सह-दायित्व 2014 में शुरू किये गये। इस मिशन में सरकार का मुख्य कार्य 1.04 करोड़ परिवारों को लक्षित रखते हुए 2.5 लाख सामुदायिक शौचालय, 2.6 लाख सार्वजनिक शौचालय की सुविधा प्रदान करने का प्रस्ताव रखा गया। इस कार्यक्रम के तहत जहाँ अधिक जनसंख्या वाले आवासीय क्षेत्र हैं उनमें सामुदायिक शौचालयों का निर्माण करने का प्रस्ताव रखा गया है और जो पर्यटन स्थानों, बड़े बाजारों, रेलवे स्टेशनों, बस स्टैंडों, आदि जगहों पर सार्वजनिक शौचालयों का निर्माण करने के लिये प्रयास जारी है। इस कार्यक्रम को पाँच साल के कार्यकाल में 4401 शहरों में लागू करना प्रस्तावित किया गया था। इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिये 62,009 करोड़ रुपये में से सरकार की तरफ से 14,623 रुपये इस कार्य को पूरा करने के लिये प्रदान करने का प्रावधान किया गया।

केन्द्र सरकार द्वारा दिये जाने वाले 14,623 करोड़ रुपये में से 7,366 करोड़ रुपये का प्रयोग अपशिष्ट प्रबन्धन कार्य पर खर्च किया जाना था। 1,465 करोड़ रुपये व्यक्तिगत घरेलू शौचालयों पर खर्च करने का प्रावधान था, जबकि 1,828 करोड़ रुपये का उपयोग जनता में जागरूकता लाने के लिये किया जाना था।

ग्रामीण क्षेत्रों और स्वच्छ भारत मिशन का महत्व

भारत सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में चलाये जा रहे 'निर्मल भारत अभियान' का मुख्य सरोकार ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों में माँग आधारित और जनकेन्द्रित अभियान है जिससे ग्रामीण क्षेत्र में निवासरत लोगों के जीवन को स्वच्छ और अच्छा बनाया जा सके। यह अभियान ग्रामीणों की स्वच्छता सम्बन्धी दैनिक आदतों में परिवर्तन लाने, बेहतर बनाने तथा स्वच्छता सम्बन्धी सुविधाओं को उपलब्ध कराने हेतु आरम्भ किया गया है जिससे ग्रामीणों के जीवन स्तर को स्वच्छ, बेहतर एवं सुगम बनाया जा सके।

इस कार्यक्रम का उद्देश्य पाँच वर्षों में शौचालय बनाकर भारत को खुले शौच से मुक्त करवाना है। इस अभियान के अन्तर्गत देश में लगभग 11 करोड़ 11 लाख सार्वजनिक और सामूहिक शौचालयों के निर्माण के लिये 1 लाख 34 हजार करोड़ रुपये खर्च किये जाने का प्रस्ताव सरकार ने जनता के समक्ष रखा है।

स्वच्छ अभियान को स्वच्छ विद्यालय अभियान से जोड़ा गया। 25 सितम्बर 2014 से 31 अक्टूबर 2014 के बीच मानव संसाधन मन्त्रालय द्वारा केन्द्रीय विद्यालय संगठन तथा नवोदय विद्यालय में 'क्लीन इंडिया ड्राइव' का आयोजन किया गया।

सामाजिक भेद-भाव से रहित स्वच्छता और समग्र सामाजिक पहल की ओर कदम

निजी और सामाजिक जीवनशैली में स्वच्छता एक बुनियादी जिम्मेदारी और एक जरूरत है। परन्तु यदि आज के समाज में देखें तो हमने सफाई में निजी और सामाजिक जीवन को जाति और लिंग के आधार पर विभाजित कर दिया है। जब हम इस सन्दर्भ में सामाजिक आधार पर स्वच्छता की बात करते हैं तो इसको मुख्यत: जाति से जोड़ा जाता है जिसमें जो सफाई कर्मचारी वर्ग है उनको ही इस सफाई और स्वच्छता के लिये मुख्य कार्यकारिणी व्यक्ति के रूप मे केन्द्रित किया जाता है।

जब हम निजी जीवन में अर्थात् पारिवारिक जीवन में सफाई और स्वच्छता की बात करते हैं तो यहाँ पर घर की साफ-सफाई, झाड़ू लगाने, कपड़े धोने और बर्तन साफ करना स्त्री के हिस्से में आता है। इसमें यदि धर्म, भाषा, लिंग, समुदाय से ऊपर उठकर देखें तो इसमें हम सब एक जैसे हैं।

इसी परम्परागत व्यवस्था के विरुद्ध गाँधी ने एक कदम उठाया जिसका भारतीय समाज में एक जबरदस्त प्रभाव देखने को मिला। समाज में स्वच्छता की जिम्मेदारी रखने वालों को पुरस्कृत करने की बजाय तिरस्कृत करने का जो विधान समाज में बना हुआ था उसको तोड़ने के लिये गाँधी ने पहल की तथा जो समाज में स्वच्छता का कार्य करते हैं उनको स्वाभिमानी बनाने में गाँधी ने एक महत्वपूर्ण निभाई।

इस सन्दर्भ में यदि हम देखें तो साफ-सफाई का जो स्वस्थ समाज का एक महत्वपूर्ण तत्व है उसको पूरा करने तथा उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये सामाजिक सोच में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है तथा इस परिवर्तन के द्वारा ही समाज में स्वच्छता का वातावरण बनाया जा सकता है जिसका सपना गाँधी ने देखा था।

स्वच्छता के प्रति सामाजिक दृष्टि में बदलाव करना आवश्यक

हर राज्य की सरकार अपने-अपने राज्य में या ग्रामीण क्षेत्रों में गाँधी-अम्बेडकर-लोहिया जैसे स्वच्छता के प्रवक्ता के नाम पर हजारों की संख्या में शौचालय बनाने में लगी हुई है। महानगरों की बात करें तो यहाँ सुलभ शौचालय, सरकारी शौचालय तथा चलित शौचालय देखने को मिलते हैं।

यदि हम आँकड़ों के अनुसार देखें तो देश में शौचालयों की मुख्य रूप से कमी रही है -

- 2011 के जनगणना प्रतिवेदन के अनुसार गाँव के 67.3 प्रतिशत घरों या 1.31 करोड़ लोगों के पास शौचालय की सुविधा उपलब्ध नहीं है।
- शेष 36.4 प्रतिशत आबादी के पास वाटर क्लोजेस्ट हैं।
- 9.4 प्रतिशत के पास पिट लैटरिन्स हैं।
- भारत में लगभग 62.6 करोड़ लोग खुले में शौच करते हैं।

- देश में 80 करोड़ शौचालय की आवश्यता है। 2019 तक शहरी क्षेत्र के 1.04 करोड़ घरों में शौचालय मुहैया करवाने का लक्ष्य रखा गया था।
- सरकार द्वारा प्रथम वर्ष में 2 करोड़ शौचालय बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

इस कार्यक्रम को प्रधानमन्त्री से लेकर मुख्यमन्त्री, जिला प्रमुख और नगर प्रमुख को खुद से साफ-सफाई, स्वच्छता की मासिक प्रगति की जाँच की जिम्मेदारी लेनी होगी अन्यथा जिस देश में स्कूल, चिकित्सालय और अन्य संस्थाओं में स्वच्छता पर ध्यान नहीं दिया जाता जिसके कारण स्वच्छ भारत अभियान के द्वारा देखा गया सपना, सपना ही रह जायेगा वह कभी पूर्ण नहीं हो पायेगा।

लोकप्रियता को दूर रखकर सफाई पर ध्यान देना आवश्यक

स्वच्छता सम्बन्धी कार्य के लिये देश हित में नागरिक कर्तव्य के रूप में अपना योगदान देना होगा। इस कार्य के लिये तन, मन तथा धन से समाज के हित के लिये तथा राष्ट्र प्रगति के लिये कार्य करना होगा। अक्सर हमारे आस-पास देखा जा रहा है कि साफ-सफाई को लेकर लोगों में, नेताओं में अपने-आप को लोकप्रिय करने की होड़ देश में देखी जा रही है जो व्यर्थ तथा दिखावे का हिस्सा है।

साफ-सफाई का पहलू यदि देखें तो यह मुख्य रूप से श्रम शक्ति और आर्थिक शक्ति से जुड़ा हुआ है। हमें मुख्य रूप से उन तकनीकी व्यवस्थाओं पर ध्यान देना होगा जो स्वच्छता के लिए महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए हमें देश में शौचालयों की आवश्यकता है परन्तु सभी जगह एक जैसे शौचालयों की आवश्यकता नहीं है।

गाँधी ने शौचालयों की सफाई को जाति-व्यवस्था से अलग करके बाहर निकालने की कोशिश की जो पूर्ण नहीं हो पाई। इन सबसे ऊपर उठकर स्वच्छता के प्रबन्ध को पारिवारिक स्तर पर, पड़ोस, गाँव, नगर और महानगर के स्तर पर काम करने के तौर-तरीकों तथा परम्परागत रीति-रिवाजों को बहुत पास से देखकर उनको परखने की जरूरत है।

स्वच्छ भारत अभियान का ब्यौरेवार विवरण (2014-19)

स्वच्छ भारत अभियान के लिये भारत सरकार ने कुल 1,96,009 करोड़ रुपये की घोषणा इस अभियान को पूरा करने के लिये की है। इसमें ग्रामीण विकास मन्त्रालय 1,34,000 करोड़ रुपये की भागीदारी करेगा और 62,009 करोड़ रुपये की भागीदारी शहरी मन्त्रालय की होगी।

सरकार द्वारा स्वच्छ भारत अभियान को दो भागों में विभाजित किया गया है - ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छ भारत (ग्रामीण) और 4,041 शहरों के लिये स्वच्छ भारत (शहरी) अभियान। इसके तहत 66,575 घरों में प्रतिदिन शौचालय बनेंगे ताकि पाँच वर्ष में प्रत्येक घर में शौचालय बनाने का लक्ष्य पूरा किया जा सके। 56,928 शौचालय ग्रामीण स्कूलों में बनेंगे।

साथ ही, देश के प्रत्येक विद्यालय या शिक्षा संस्थान में लड़के-लड़कियों के लिये पृथक् शौचालय का निर्माण किया जायेगा। लोगों में स्वच्छता के प्रति नजरिया बदलने का कार्यक्रम अभियान 31 अक्टूबर तक चला। यह 25 दिसम्बर 2014 से चलाया गया।

जनसंख्या वृद्धि भी अस्वच्छता का एक मुख्य कारण : बढ़ती जनसंख्या से बढ़ती अस्वच्छता

यदि हम 21वीं सदी में देखें तो जैसे-जैसे शहरों के आकार में बढ़ोतरी हो रही है वैसे-वैसे कचरे के उत्पादन में भी कहीं वृद्धि हो रही है। जिन शहरों में जनसंख्या एक लाख से कम है या उसके आसपास है तो उन शहरों में प्रति व्यक्ति 300 ग्राम कचरे की पैदावार होती है। जबकि 10 लाख से ज्यादा जनसंख्या वाले शहर में एक व्यक्ति हर रोज 550 ग्राम कचरा पैदा करता है। भारत के 7,882 छोटे नगर जितना कचरा (82 हजार मैट्रिक टन प्रतिदिन) पैदा करते हैं, 53 बड़े शहर उससे ज्यादा 88 हजार मैट्रिक टन प्रतिदिन कचरा पैदा करते हैं। जब तक हम अपनी आर्थिक विकास की नीतियों पर पुनर्विचार और पुनर्समीक्षा नहीं करेंगे तब तक इस तरह के अभियान किसी भी रूप में समाज में कारगर नहीं होंगे। जिस आर्थिक विकास के बारे में आज बात की जा रही है इसके कारण ही कचरे की मात्रा में ढाई गुना वृद्धि हुई है।

यदि हम आँकड़ों पर प्रकाश डालें तो 1999-2000 में हमारे शहर एक दिन में लगभग 52,125 मैट्रिक टन कचरा पैदा करते थे जो 2012 में बढ़कर 1,33,760 मैट्रिक टन हो गया। यदि हम विकसित देशों की बात करें तो एक व्यक्ति एक से 25 किलो ठोस कचरा प्रतिदिन पैदा करता है। परन्तु हम 450 ग्राम के आस-पास ही करते हैं। यह सोच स्वाभाविक है क्योंकि विकास का दृष्टिकोण हमने उन्हीं विकसित देशों से लिया है। परन्तु विकसित देश इस बात के बिल्कुल खिलाफ थे, उनका कहना था कि मनुष्य की जीवनशैली इस प्रकार की हो जिसमें कम से कम कचरा पैदा हो तथा स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाये। जिस प्रकार से बढ़ते शहरीकरण के कारण कचरे का भार देश में बढ़ रहा है तो इसके हिसाब से 20 साल बाद इस कचरे को फेंकने के लिये जगह नहीं होगी फलस्वरूप इस कचरे को घर में ही रखने के लिये मजबूर होना पड़ेगा।

समाज में स्वच्छता का अभाव : एक बड़ी समस्या

सरकार द्वारा देश में सूचना, शिक्षा, सम्पर्क के लिये खासे धन की व्यवस्था किये जाने के बावजूद हमने पाया कि शौचालयों में शौच न करने तथा खुले में शौच करने से स्वास्थ्य पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों के बारे में समाज में जानकारी का अभाव है। ऐसा हाल तब है जब खुले में शौच करने के कारण हर साल हजारों बच्चे बेमौत मारे जाते हैं और जो मौत से बच जाते हैं उनको शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ घेर लेती हैं।

इसके साथ ही यदि हम देखें तो केवल शौचालय का निर्माण करना ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि यह महत्वपूर्ण है कि शौचालयों का इस्तेमाल करने के लिये लोगों में धारणा

बने। क्योंकि एक सर्वेक्षण के अनुसार यह देखा गया कि एक गाँव के 84 प्रतिशत लोगों ने कहा कि उन्होंने ग्रामीण-स्तर पर स्वच्छता सम्बन्धी किसी बैठक का नाम ही नहीं सुना।

यह बात स्पष्ट है कि स्वच्छता सम्बन्धी कार्यों और तौर-तरीकों में बदलाव लाना एक बहुत कठिन कार्य है। इसके लिये इसमें लाखों लोगों को शौचालय के उपयोग के प्रोत्साहन कार्य में जुटना होगा जिससे लोगों को अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त हो सके तथा वे शौचालय का प्रयोग करके स्वच्छता को बढ़ावा दे सकें।

सन्दर्भ

1. गाँधी, मोहनदास करमचन्द (2001), *हिन्द स्वराज,* अनुवादक - अमृतलाल ठाकुर दास नाणावती, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद.
2. गाँधी, एम.के. (2011), *एन ऑटोबायोग्राफी ऑर द स्टोरी ऑफ माय एक्सेरिमेन्ट विथ ट्रुथ,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.
3. गाँधी, एम.के. (2011), *इंडिया ऑफ माय ड्रीम्स,* राजपाल एंड संस, नई दिल्ली.
4. https://www.mkgandhi.org/articles/swachh-bharat-of-mahatma-gandhi.html
5. https://www.mkgandhi.org/articles/cleanliness-sanitation-gandhian-movement-swachh-bharat-abhiyan.html
6. https://www.mkgandhi.org/articles/cleanliness-next-to-godliness.html
7. https://www.mkgandhi.org/articles/cleanliness-sanitation-gandhian-movement-swachh-bharat-abhiyan.html
8. https://indianexpress.com/article/research/swachh-bharat-how-mahatma-became-torch-bearer-for-cleanliness/
9. https://ideas.repec.org/a/tec/journl/v6y2020i1p156-159.html
10. https://www.ncbi.nlm.nih.gov/pmc/articles/PMC6515731/

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 37-54)

उत्तर प्रदेश में भाजपा के चुनावी गणित का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

निशान्त यादव*

नरेन्द्र मोदी की अगुवाई वाली केन्द्र सरकार ने लाभ के अधिक समान बँटवारे को सुनिश्चित करने के लिए एक ओबीसी उप-वर्गीकरण समिति का गठन किया है, जो राजनीतिक रणनीति से प्रेरित है, यह प्रेरणा उसे उत्तरी भारत में ओबीसी जातियों के बीच अपने समर्थन को मजबूत करने के बदले में प्राप्त होती है। लेकिन इसकी एक कामयाबी यह है कि, भाजपा की चुनावी कामयाबियों में इस रणनीति द्वारा बहुमत की पूर्ण संख्या और मतदान में मतों का महत्वपूर्ण हिस्सा प्राप्त करके प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उत्तर प्रदेश में अपनी स्थिति को मजबूत कर लेती है। सरकार के इस कदम से देश में जाति और आरक्षण के विषय में बहस पुराने राजनीतिक विमर्शों[1] से आगे बढ़ते हुए शक्ति और समाज परिवर्तन में वैधानिकता[2] के नये कयास गढ़ने लगी है। जिसे समझना इस आलेख का प्रमुख लक्ष्य है। जिसका आधार शोध केन्द्रों (सीएसडीएस, ईसीआई, डीसीआरसी) पर जमा किए गए आँकड़ों से प्राप्त किया जाएगा। इन आँकड़ों तथा लक्ष्यों की समाजशास्त्रीय पड़ताल के लिए लेख को प्राक्कथन के अतिरिक्त पाँच भागों में विभक्त किया गया है। पहले भाग में जाति और जातिवाद के बीच प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों की बदलती प्रकृति का विश्लेषण किया जाएगा। दूसरे भाग में पहचान से दलीय राजनीति तक पहुँचने और उससे परिणामों को गढ़ने तक की पड़ताल की जाएगी। तीसरा भाग उपर्युक्त दो भागों के आधार पर द्वितीय

*सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
E-mail: nishantyadav.du@gmail.com

लोकतान्त्रिक लहर के प्रभावों के मध्य विश्लेषित किया जाएगा। चौथा जाति तथा धर्म के आधार पर किए जा रहे ध्रुवीकरण पर आधारित होगा। पाँचवाँ भाग उस निचोड़ को विश्लेषित करेगा जो उत्तर प्रदेश में तृतीय लोकतान्त्रिक लहर को कारगर और प्रभावशाली बनाता है।

उत्तर प्रदेश के समाजशास्त्रीय परिदृश्य में भाजपा को प्रतिकूल कर के देखने की आवश्यकता है। भाजपा ने विकास के विशेष आकर्षण, समानता का विश्वास और आत्मविश्वास प्रदान करने वाले सामूहिक अभियान के साथ नये सामाजिक समूहों का अधिग्रहण करने का प्रयास किया है। इसके लिए एक सर्व-समावेशी नेतृत्व की आवश्यकता थी, जो जाति या भौगोलिक आवरण से मुक्त दिखाई देता हो साथ ही सभी सामाजिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करता हो और भाजपा की इस खोज के लिए मोदी खुद को इस खोज के अनुकूल गढ़ते हैं। सकारात्मक अभियान और चुनावी वायदों के माध्यम को पारम्परिक रूप से गैर-सहायक सामाजिक और जनसांख्यिकीय क्षेत्रों से जोड़कर एक ऐसे वर्ग विशेष के रूप में युवाओं और महिलाओं को मतदाता शक्ति के रूप में स्थापित करता है। यह शक्ति सपा-बसपा-कांग्रेस गठबन्धन को सफल चुनौती देने में कामयाब रही। भाजपा इस बात का संज्ञान रखती है कि विपक्षी दलों के बीच राजनीतिक गठबन्धन को चुनौती देने और मुख्य रूप से अपने व्यापक सामाजिक आधार को मजबूत एवं विस्तारित करने के लिए, उसे जिसने पूर्व के चुनावों में भाजपा को वोट दिया था उनके लिए काम करना होगा। 2014 के आम चुनावों में और बाद में उत्तरप्रदेश में 2017 के विधानसभा चुनावों में, भाजपा ने अपने विरोध का मुकाबला करने के लिए विपक्षियों की एक साथ लामबन्दी की प्रक्रिया को खंडित करने के लिए रणनीति तैयार की। दलितों और अन्य पिछड़ा वर्ग में सबसे पहले आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों और सामाजिक रूप से वंचित समूहों को स्पष्ट रूप से हिन्दुत्व के पारम्परिक मूल्यों की तरफ लाने का श्रमसाध्य कार्य किया।[3] सामाजिक रूप से वंचित समूहों के भीतर बड़े वर्गों के लिए दलित/बहुजन/पिछड़ा जैसे लोकप्रिय सामूहिक समरूप नामकरण ही उपलब्ध हैं। व्यक्ति अक्सर अपने राजनीतिक दावों को स्पष्ट करने के लिए इन संकीर्ण जाति श्रेणियों का उपयोग करते हैं। भाजपा की रणनीति इस जाति आधारित सामाजिक विभाजन का विस्तार करने की रही है, ताकि यह सुझाव दिया जा सके कि एक एकल जाति सभी सामूहिक जातियों की ओर से सत्ता का एकमात्र विनियोगकर्ता नहीं होनी चाहिए।[4]

भाजपा ने दो अलग-अलग राजनीतिक रणनीतियों को अपनाकर इस तरह का प्रभावशाली सामाजिक गठबन्धन हासिल किया - पहला, भाजपा यह समझती है कि जाति व्यवस्था अभी भी क्रियाशील है और विभिन्न जाति समूहों में सामाजिक गठबन्धन या भ्रातृ सम्बन्ध नहीं हैं। जाति अभी भी अविश्वास, दुश्मनी और एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या के साथ काम करती है और कोई सुधारवादी बल नहीं है जो इस तरह के जाति विभाजन को चुनौती दे सके। आधुनिक लोकतन्त्र सामाजिक क्षेत्रों और गुटों के पुनरुत्थान को अलग राजनीतिक दावे करने की अनुमति देता है। इसने जाति के विभाजन को सुधारने में कोई दिलचस्पी नहीं

दिखाई; इसके बजाय यह जाति के भीतर उप-विभाजन को प्रोत्साहित करती है और उसका राजनीतिकरण करती है ताकि कोई भी जातिगत राजनीतिक समूह, जैसे दलित या अन्य पिछड़ा वर्ग जातियों के आधार पर किसी दल का गठन न कर सकें। यह समझती है कि इस तरह का कोई भी गठन भारतीय सामाज के कुलीन वर्ग के वर्चस्व को चुनौती दे सकता है। इसलिए, उन जाति समूहों का समर्थन और प्रचार करना जो दलितों और अन्य पिछड़े वर्गों की सामूहिक पहचान को समाप्त करने के लिए तैयार है, इसकी एक प्रमुख रणनीति बन गई है। दलितों के बीच यह मुख्य रूप से राजभर, पासी, धोबी और खटीक जातियों को बसपा के जाटव नेतृत्व के खिलाफ एक विरोधी खेमें के रूप में बढ़ावा देने के लिए उत्सुक दिखाई देती रही है। अन्य पिछड़ा वर्ग में मौर्य, कुर्मी और लोधी जैसी प्रमुख जातियाँ हैं जो हिन्दुत्व की राजनीति के प्रमुख ध्वजवाहक हैं। ऐसे में सपा, केवल यादव बहुल पार्टी और बसपा महज जाटव बहुल पार्टी के रूप में प्रतिष्ठित होकर रह जाती है। भाजपा द्वारा जातिगत समूहों के बीच रोजमर्रा के सामाजिक मतभेदों को सचेत रूप से जोड़कर इसे कठोर सामाजिक और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता में परिवर्तित किया जाता है। दूसरा, इन जातियों के भीतर वर्गीकरण को जीवित रखने के लिए भाजपा द्वारा विभिन्न राजनीतिक घोषणाएँ और नीतिगत-स्तर पर वायदे किए गए हैं। उदाहरण के लिए, भाजपा शासित राज्य और केन्द्र सरकार ने वर्तमान आरक्षण नीति के विभाजन में गहरी दिलचस्पी दिखाई है। यह पार्टी को लोकप्रिय बनाने में मदद करती है कि यादव, जाटव और कुछ अन्य जातियों ने आरक्षण नीति के अधिकांश लाभों पर एकाधिकार कर लिया है और इसलिए, यह नीति में सुधार करने का समय है, ताकि लाभ सबसे पिछड़ी जातियों तक भी पहुँच सके। वहीं विकास के नाम पर नव-मध्यम वर्ग के मतदाताओं जैसे यादव, कुर्मी, कोईरी और पटेल ने भी बड़ी संख्या में भाजपा के लिए वोट किया।

जाति एवं जातिवाद के बीच प्रतिनिधित्वात्मक सिद्धान्त

इन सभी आँकड़ों और तथ्यों ने दलीय रणनीतिक व्यवस्था में सूक्ष्म तौर पर बदलाव हेतु दलों को एक संरचनात्मक आयाम प्रदान किया जो अतीत में नहीं था। एक केन्द्रीकृत राजनीति के अभाव में, दलीय प्रणाली ने सुपर-संरचनात्मक रूप से पदानुक्रम की एक विचारधारा के रूप में कार्य किया। अवसंरचनात्मक पदार्थ की कमी एक सामान्य सामाजिक भाषा के रूप में कार्य करती है, जिसकी वजह से विभिन्न स्थानीय लोगों को उनकी वैधता की आपूर्ति भारतीय समाज में स्थिति श्रेणियों और जातियों के मूल पदानुक्रम के अनुसार की गई। चूँकि भारत अब एक उदारवादी लोकतान्त्रिक राज्य द्वारा शासित एक अखिल भारतीय राजनीतिक इकाई बन गया, जैसा कि हमने पहले देखा था, प्रत्येक नये सामाजिक प्रारूप जिसमें कई जातियाँ सम्मिलित थीं, प्राय: उनमें अब क्षेत्रीय और अखिल भारतीय स्तरों पर धार्मिक अनुष्ठान और धार्मिक समुदाय उभरने लगे हैं। अपनी आरक्षण की नीति को लागू करने के क्रम में राज्य द्वारा तैयार किए गए नामकरण उच्च जातियाँ, पिछड़ी जातियाँ (अन्य

पिछड़ा वर्ग), दलित या अनुसूचित जाति (एससी) और आदिवासी या अनुसूचित जनजाति (एसटी) द्वारा आधिकारिक वर्गीकरण से व्युत्पन्न नयी संरचनाओं की पहचान की जाने लगी। जाति व्यवस्था के स्थिति समूहों के विपरीत, ये नये सामाजिक निर्माण राजनीतिक शक्ति के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करते हुए अपेक्षाकृत ढीले और खुले अन्त वाली संस्थाओं के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रतियोगिता में, उच्च-जाति के सदस्यों को तत्कालीन पारम्परिक उच्च दर्जे के संसाधनों के लिए उपलब्ध कराया है और निम्न-जाति के निर्माण में राज्य की सकारात्मक कार्रवाई की नीति से उन्हें लाभ होता है।

इस प्रकार, आकस्मिक स्तरीकरण प्रणाली पुरानी स्थिति प्रणाली और नयी शक्ति प्रणाली के बीच एक प्रकार के संलयन का प्रतिनिधित्व करती है। अलग ढँग से कहें, बन्द स्थिति समूहों के अनुष्ठान पदानुक्रम सामाजिक स्तरीकरण की एक काफी खुली और तरल प्रणाली में बदल गया है। यह व्यवस्था प्रक्रियारत है इसे या तो जाति के सन्दर्भ में या शुद्ध वर्ग की शर्तों में वर्णित नहीं किया जा सकता है। धीरूभाई सेठ अपने लेख 'सेकुलराइजेशन ऑफ कास्ट एंड मेकिंग ऑफ न्यू मिडिल क्लास' में बताते हैं कि उपर्युक्त तथ्य 'नये मध्य वर्ग' की विशेषता हो सकती है। 'नया' क्योंकि इसका उद्भव सीधे जाति व्यवस्था के विघटन के कारण होता है, इसने सामाजिक रूप से बहुत अधिक पुराने, उच्च जाति उन्मुख मध्यम वर्ग की तुलना में इसे विविधतापूर्ण बना दिया है जो स्वतन्त्रता के समय अस्तित्व में था। इसके अलावा, पारम्परिक पदानुक्रम में उच्च स्थिति पुराने मध्य वर्ग में प्रवेश के लिए एक मानदंड के रूप में निहित रूप से काम करती है। संस्कार और संस्कृतिकरण दोनों ने 'नये' मध्यम वर्ग के गठन में अपनी प्रासंगिकता खो दी है। आज के मध्य वर्ग की सदस्यता नयी जीवनशैली, कुछ आर्थिक परिसम्पत्तियों के स्वामित्व और मध्यम वर्ग से सम्बन्धित आत्मचेतना से जुड़ी है। इस प्रकार यह विभिन्न जातियों के सदस्यों के लिए खुला है। आधुनिक शिक्षा, गैर-पारम्परिक व्यवसायों या उच्च आय और राजनीतिक शक्ति को इस मध्यम वर्ग में प्रवेश करने के लिए आवश्यक तत्व मान लिया गया। फिर भी इस नये मध्य वर्ग को वास्तव में जिसकी उत्पत्ति एक सैद्धान्तिक बहस है, शुद्ध वर्ग श्रेणी के निर्माण के रूप में नहीं देखा जा सकता है। प्रवेश के रूप में यह जाति के कुछ तत्वों को अपने भीतर समाहित करता है, मध्यम वर्ग के व्यक्ति को अपनी जाति के सामूहिक राजनीतिक और आर्थिक संसाधनों से सुविधा होती है। उदाहरण के लिए, मध्यम वर्ग में प्रवेश करने वाले उच्च जाति के व्यक्तियों के पास वे संसाधन होते हैं जो उनकी पारम्परिक पदानुक्रम में जाति स्थिति से जुड़े होते हैं।

इसी तरह, निम्न जाति के सदस्यों के लिए, पारम्परिक स्थिति संसाधनों की कमी के कारण, मध्यम वर्ग में उनके प्रवेश को सकारात्मक कानूनी प्रावधानों जैसे सकारात्मक कार्रवाई की सुविधा मिलती है, जिसके लिए वे अपनी निम्न पारम्परिक स्थिति के आधार पर हकदार होते हैं। ऐसा लगता है कि भारतीय मध्यम वर्ग अपने भीतर जातिगत तत्वों को इस हद तक ले जाना जारी रखेगा कि मध्यम दर्जे की आकांक्षाओं को आगे बढ़ाया जाता रहे, और उनके जातिगत बोध की इस सम्भावना को उन जातियों के सन्दर्भ में देखा जाता है, जिनसे वे

सम्बन्धित हैं। फिर भी नये मध्य वर्ग के गठन के लिए महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अपनी जातियों के सामूहिक संसाधनों का उपयोग करते समय, सभी जातियों के व्यक्ति जो इसमें प्रवेश करते हैं, वे अन्तर्ग्रहण की प्रक्रिया से गुजरते हैं; वे अपनी भूमिकाओं से जुड़ी रस्मों और कार्यों से दूर हो जाते हैं; एक और लेकिन नये मध्यम वर्ग से सम्बन्धित पहचान प्राप्त करता है; उनकी आर्थिक रुचि और जीवनशैली उनके मध्य-वर्ग के अन्य सदस्यों के साथ-साथ उनके मध्यवर्गीय जाति के हमवतन के साथ अधिक मेल खाती है।

भारत में मध्यम वर्ग के गठन की प्रक्रिया को हाल के अखिल भारतीय नमूना सर्वेक्षण के निष्कर्षों द्वारा स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है।[5] गठबन्धन की राजनीति के दौरान जब कांग्रेस प्रणाली का ह्रास हो गया तब इस जातिगत नवीन व्याख्याओं को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए भाजपा ने मंडल, कमंडल और भूमंडल की राजनीतिक रणनीति को अपनाया जिसकी विस्तृत चर्चा इस लेख में आगे की गई है। सामाजिक रूप से 1990 के बाद की राजनीति भारत में पिछड़ों के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उभार की राजनीति रही है। हालाँकि पिछड़ों का सामाजिक उभार 60 के दशक के उत्तरार्ध में समाजवादी ब्लॉक के नेतृत्व में पनपा जिसने लोहिया के नेतृत्व में अपनी राजनीतिक उपस्थिति दर्ज कराई लेकिन अखिल भारतीय राजनीति का स्वरूप कांग्रेस के नेतृत्व में कमोबेश ब्राह्मणवादी ही रहा जिसमें कांग्रेस ने पिछड़ों के साथ स्थानीय और प्रादेशिक स्तर पर सामाजिक और राजनीतिक गठजोड़ स्थापित किए। सत्तर के दशक तक आते-आते पिछड़ी राजनीति ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक उपस्थिति दर्ज कराना शुरू किया जो चौधरी चरणसिंह, बंशीलाल और देवीलाल के नेतृत्व में अपने उत्कर्ष पर पहुँची। भारत का यह पिछड़ा समाज जो अब राजनीतिक रूप से बेहद प्रभावशाली होने के बावजूद अपनी विशिष्ट धार्मिक और सांस्कृतिक स्थापना में नाकामयाब रहा। अस्सी के दशक के बाद जब पूरी दुनिया की राजनीतिक व्यवस्था का रुझान दक्षिणपन्थी होने लगा तो भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। समाजवाद के भीतरी अन्तर्विरोध और अस्मितामूलक राजनीति के उभार ने भारतीय राज्य की समाज के नियामक होने की हैसियत घटा दी।

पहचान के तहत जाति आधारित दलीय राजनीति का सफर

कंचन चन्द्रा अपनी किताब 'व्हाय इथनिक पार्टी सक्सीड : पैट्रोनेज एंड एथनिक हेड काउंट्स इन इंडिया' में पहचान आधारित दल के तौर पर जातीय पार्टी को परिभाषित करती हैं कि एक ऐसी पार्टी जो एक विशेष जातीय श्रेणी का प्रतिनिधित्व करती हो या दूसरी जातियों के बहिष्करण के कारण खुद को चैम्पियन के रूप में दर्शाती हो और जो मतदाताओं को जुटाने की अपनी रणनीति के लिए इस तरह के प्रतिनिधित्व की अवधारणा को केन्द्र में रखती हो, पहचान आधारित दल कहे जाते हैं। इस परिभाषा के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त हैं जो कि प्रतिलेखन, अपवर्जन और केन्द्रीयता हैं। ये ऐसी श्रेणियाँ हैं जो इस तरह की पार्टियों का निर्माण करती हैं, जिन्हें उनकी मुखर विशेषताओं के अनुसार परिभाषित किया जाता है; जिसमें

'अन्दरूनी' जातीय श्रेणियों का जमाव हमेशा जाति के 'बाहरी लोगों' के बहिष्कार के साथ होता है। वहीं एक गैर-पहचान आधारित पार्टी को, एक ऐसी पार्टी के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो जातीयता से सम्बन्धित एक अपील को अपनी गतिशील रणनीति के रूप में प्रस्तुत करती है, लेकिन यह जातीयता के मुख्य आयामों पर सभी सम्बन्धित श्रेणियों के प्रति तटस्थता या समानता की स्थिति को मानती हो।

भारत में पहचान आधारित दलों के उदय की घटना अस्सी के दशक के दौरान शुरू होती है, जिसके मद्देनजर सबसे पहले हम इसके उदय के लिए जिम्मेदार सामाजिक कारकों को समझने का प्रयास करते हैं। प्रदीप के. छिब्बर और जॉन आर. पेट्रोइक अपने लेख 'सोशल क्लीवेज, इलेक्शन एंड द इंडियन पार्टी सिस्टम' में इन कारकों की तसल्ली से व्याख्या पेश करते हुए ये बताते हैं कि, सोशल क्लीवेज यानी सामाजिक दरार की अवधारणा भारतीय राजनीति में कई अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। सबसे पहले कांग्रेस एक ऐसी पार्टी के रूप में उभरती है जो जनसांख्यिकीय रूप से विश्व के दूसरे सबसे बड़े देश में स्थानीय लोगों को भी अपनापन महसूस कराती है। यह राज्य की विशिष्ट जरूरतों पर आधारित समूहों का एक केन्द्र होती है जो एक आम निर्वाचन क्षेत्र से नहीं, बल्कि उन कुलीनों से जुड़ी है जो सरकार और संगठन में पदों की तलाश में इसे सहयोग करते हैं। कांग्रेस पार्टी का राज्य आधार इसकी विशिष्टता थी। कांग्रेस द्वारा प्रतिनिधित्व प्रदान किए गए समूह राज्य के अलग-अलग जाति, वर्ग और जातीय समूह के होते थे, जो एक राज्य में कांग्रेस के विजित निर्वाचन क्षेत्र का गठन करते थे। यह कांग्रेस की 'मध्यमार्गी' प्रकृति की सबसे सार्थक व्याख्या हो सकती है। कांग्रेस अपनी विविधता के कारण 'केन्द्र' पर काबिज रही। छिब्बर और पेट्रोइक लिखते हैं कि, कांग्रेस ने शुरूआत में स्वतन्त्रता आन्दोलन और उसके बाद राष्ट्र-राज्य के लिए प्रतीकात्मक और संगठनात्मक सम्बन्धों का फायदा उठाकर चुनावी विजयश्री की कठिनाई को जीत लिया। जो कांग्रेस को वोट जुटाने के लिए एक राष्ट्रीय ढाँचा प्रदान करते हैं। इस तरह के संसाधन, आजादी के बाद से कांग्रेस का विरोध करने वाले अन्य किसी दल के पास नहीं था। परन्तु काबिले गौर है कि, प्रत्येक राज्य की अपनी अजीब सामाजिक दरारें होती हैं जो कांग्रेस और उसके विरोधियों लिए पार्टी संरेखण का आधार प्रदान करती हैं। चूँकि ये अतुल्य दरारें विभिन्न राज्यों में समान अनुनाद नहीं करती हैं, इसलिए किसी भी पार्टी के पास हर राज्य में समर्थन का एक सामाजिक आधार नहीं हो सकता है। जो इन सामाजिक दरारों की आकांक्षाओं को राजनीतिक तौर पर लामबन्द करने के लिए क्षेत्रीय आधार पर दलों के निर्माण को एक आधार प्रदान करता है, यही कांग्रेस के भीतर विभिन्न क्षेत्रीय और सामाजिक समूहों की नुमाइन्दगी करने वालों की पार्टी के भीतर 'असहमति' की व्याख्या करने में भी मदद करता है, यानी चुनावी प्रतिस्पर्धा और परिणामों के मामले में राष्ट्रीय पार्टी से राज्य के क्षेत्रीय और सामाजिक समूहों का बढ़ता अलगाव।

कांग्रेस से यह असहमति उसके चुनावी संयोजन के चरित्र को दर्शाती है। गौरतलब है कि, कांग्रेस का प्राथमिक उद्देश्य राष्ट्रीय सरकार का गठन रहा है। राज्य और स्थानीय नेताओं

के बीच सहयोग कभी-कभी आधे-अधूरे मन से एक राष्ट्रीय नेता का चयन करने के लिए लिया जाता है, जिसकी स्थानीय मतदाताओं से राष्ट्रीय पार्टी के प्रतीकों के लिए अपील उसकी व्यक्तिगत सामाजिक पूँजी और जातीय/क्षेत्रीय जुड़ाव को दर्शाती है। राष्ट्रीय कार्यपालिका की शक्ति सरकार द्वारा राष्ट्रीय संस्थानों पर उसके राजनीतिक नियन्त्रण से स्थापित होती है। स्थानीय राजनीतिक हस्तियाँ अपने निर्वाचन क्षेत्रों के भीतर सामाजिक विभाजन और अपने संघर्षों के आधार पर सुरक्षित और प्रभावशाली हैं। चूंकि राजनीतिक सत्ता को बनाए रखना काफी हद तक व्यक्तिगत नेतृत्व पर निर्भर करता है, इसलिए स्थानीय विभाजन को जुटाने के लिए पार्टी क्षेत्रीय नेताओं की संगठनात्मक क्षमता में गिरावट को प्रोत्साहित करती है ताकि उनके द्वारा होने वाले राजनीतिक परिणामों में बदलाव को सीमित किया जा सके।

कांग्रेस तब तक चुनाव जीतना जारी रख सकती है जब तक स्थानीय राजनीतिक अभिजात्य वर्ग राष्ट्रीय कार्यकारिणी के लिए वोट जुटाता है और जिसके बदले में, राष्ट्रीय संगठन द्वारा स्थानीय राजनीतिक जरूरतों को पूरा किया जाता है। राजनीतिक लाभ के पदों हेतु प्रतिस्पर्धा, 'राज्य' नेताओं द्वारा जो पार्टी के लिए संगठन का निर्माण करते हैं, 'राष्ट्रीय' पार्टी के समर्थन की वापसी का एक परिणाम है, जिनके हितों को केन्द्रीय कार्यकारिणी द्वारा अनदेखा किया जाता है। इन संघर्षों का प्राथमिक प्रभाव यह पड़ता है कि राष्ट्रीय नेतृत्व का राज्य/स्थानीय नेताओं के साथ संगठनात्मक सम्बन्ध और अधिक ढीला हो जाता है। इसका माध्यमिक प्रभाव राष्ट्रीय संगठन को व्यक्तिगत नेतृत्व की संस्था में बदल देता है। जो एक कार्यकारी केन्द्रित पार्टी, अभिजात्य वर्ग विखंडन, राज्य-आधारित नेतृत्व को उनके विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में बदल देता है, जबकि 'राष्ट्रीय' कांग्रेस प्रधानमन्त्री के आसपास दोलन करने लगता है। इसके सर्वोच्च प्रभाव के तौर पर यह देखने को मिलता है कि पार्टी अपना स्थानीय जनाधार खो देती है जिसके सापेक्ष जहाँ सामाजिक विषमता होती है वहाँ उस समूह के राजनीतिक रूप से जागरूक सदस्य अपने समुदाय को उनके राजनीतिक मूल्यों के प्रति आगाह करते हुए पहचान आधारित गोलबन्दी करना शुरू कर देते हैं।

कंचन चन्द्रा बसपा के गठन के साथ इस बात को और आगे बढ़ाती हैं कि, दो राज्यों उत्तर प्रदेश और पंजाब में सुदूर ऊर्ध्वगामी क्षेत्र अनुसूचित जाति के लोगों के लिए एक प्रतिनिध्यात्मक रुकावट के तौर पर कार्य कर रहे थे लेकिन कर्नाटक में ऐसा देखने को नहीं मिलता है। नतीजतन बसपा उत्तर प्रदेश और पंजाब के चुनावी बाजार में खुद को एक व्यावहारिक विकल्प के रूप में पेश करने में सक्षम रही जो कर्नाटक में नहीं हो सका। उनकी पुस्तक दर्शाती है कि अनुसूचित जाति के मतदाता और अन्य लोग पार्टियों में प्राथमिकताएँ उनके तुलनात्मक मुद्दे की स्थिति का आकलन करके नहीं, बल्कि पार्टियों के साथ उनके 'अपने' जातीय श्रेणियों से सम्बन्धित कुल 'प्रमुखों' की गिनती के द्वारा तैयार करते हैं। जहाँ अनुसूचित जाति के अभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधित्व पर बसपा का एकाधिकार है, अनुसूचित जाति के मतदाताओं को अन्य दलों की तुलना में बसपा को पसन्द करने की अधिक

सम्भावना है। और यहाँ तक कि जहाँ अनुसूचित जाति के कुलीन वर्ग के प्रतिनिधित्व पर बसपा का एकाधिकार है, उन अनुसूचित जाति श्रेणियों के मतदाता जिनके कुलीनों का बसपा में प्रतिनिधित्व है उनके द्वारा भी अन्य जाति श्रेणियों के मतदाताओं की तुलना में बसपा को पसन्द करने की अधिक सम्भावना है।

परन्तु यह दलित जातिगत राजनीति का एक नया पहलू है जिसमें इनके जातीय धर्मगुरुओं और स्थानीय जातिगत प्रतीकों को मुख्यधारा के हिन्दुत्ववादी विचारों के साथ जोड़कर राजनीतिक लाभ प्राप्त करने की एक नवीन कोशिश की जा रही है। बद्री नारायण अपनी किताब 'हिन्दुत्व का मोहिनी मन्त्र' में बताते हैं कि यह हिन्दुत्व की राजनीति का एक हिस्सा है जिसमें दलितों के अलग-अलग जाति के धर्मगुरुओं और जातिगत प्रतीकों को एक धार्मिक केन्द्र बनाया जाता है फिर उन्हें राजनीतिक सत्ता के साथ मिलाकर राजनीतिक लाभ लेने की कोशिश की जाती है। बद्री नारायण से इतर मेरा मानना है कि इसमें हर दल की अपनी जातीय निष्ठा भी है जहाँ कांग्रेस और समाजवादी पार्टी हमेशा ब्राह्मण धर्मगुरुओं पर दाँव लगाती रही है जिसकी अभिव्यक्ति हम अखिल भारतीय अखाड़ा परिषद के प्रमुख महन्त नरेन्द्र गिरि द्वारा अखिलेश यादव को पुन: उत्तर प्रदेश का मुख्यमन्त्री बनाये जाने के लिए किए जाने वाले यज्ञ से होती है। वहीं भारतीय जनता पार्टी मुख्यत: पिछड़े और हाल ही में दलित धर्मगुरुओं के साथ तालमेल बैठाती नजर आती है।

द्वितीय लोकतान्त्रिक लहर

अपने लेख 'कायापलट' की कहानी मेंयोगेन्द्र यादव इसे मंडल, कमंडल और भूमंडल के तीन नये राजनीतिक विमर्शों में बाँटते हैं। पिछड़ों की राजनीति की चरम राष्ट्रीय अभिव्यक्ति तब हुई जब वी.पी. सिंह के नेतृत्व में जनता दल ने सरकार बनाई। वी.पी. सिंह जातिगत रूप से भले ही क्षत्रिय थे लेकिन उनकी राजनीति पिछड़ों की राजनीतिक संरचनाओं पर टिकी थी। जिसने पूरे उत्तर भारत का राजनीतिक परिदृश्य बदल दिया, विशेषकर उत्तरप्रदेश और बिहार में सवर्ण राजनीति के वर्चस्व को लगभग समाप्त कर दिया। पिछड़ों का यह राजनीतिक उभार केवल जनता दल और उसके घटक दलों में ही नहीं था बल्कि भाजपा में पिछड़ों के संस्कृतिकरण के अन्तर्गत भी देखने को मिलता है। वास्तविकता में पिछड़ों के इस राजनीतिक उभार ने ही कांग्रेस प्रणाली में विखंडन पैदा किया, लेकिन कांग्रेस ने इस राजनीतिक अनिवार्यता को यथेष्ट समझते हुए पिछड़ों की राजनीति के साथ प्रादेशिक गठजोड़ स्थापित कर राष्ट्रीय स्तर पर अपनी राजनीतिक पहचान कायम रखी। मंडल की इस राजनीति के विरोध में ऊँची जातियों ने भाजपा के कमंडल का सहारा लिया और भारतीय राज्य के संरक्षणवादी दरवाजों को खोलकर भूमंडलीय अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1990 से सन् 2010 तक जब पिछड़े संरक्षणवादी राजनीति के तहत उदीयमान हो रहे थे तब ऊँची जातियाँ भूमंडलीय अर्थव्यवस्था के साथ मिलकर अपनी सशक्त राष्ट्रीय/ वैश्विक उपस्थिति दर्ज करा रहीं थीं। 2014 के चुनाव में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी

की भारी बहुमत से जीत परम्परागत पिछड़ी राजनीति के समाप्त हो जाने को बताती है। वर्ष 1989 से 2014 तक के 25 वर्षों में पिछड़ी राजनीति, जातिगत पहचान से जो कुछ लाभ लेना चाहती थी वो ले चुकी है[6], इसलिए ये सामाजिक वर्ग भाजपा के नेतृत्व में खुली अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ने के लिए उसके साथ आए।

जाति एवं धर्म का ध्रुवीकरण

उत्तर प्रदेश में 16वें और 17वें लोकसभा चुनावों ने राज्य में जातिगत और साम्प्रदायिक राजनीति के पारम्परिक मॉडल को ध्वस्त कर दिया है। हालांकि राज्य में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण से कांग्रेस को मदद मिल सकती थी, लेकिन जातिगत उप-समूहों के भाजपा के प्रति झुकाव ने भाजपा की जीत की सम्भावनाओं को दोनों चुनावों में साकार रूप प्रदान किया। निर्वाचकों की विकासात्मक आकांक्षाओं के साथ संयुक्त जाति-साम्प्रदायिक मॉडल के इस पुन: संयोजन से आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न होने की सम्भावना है। हालांकि उत्तर प्रदेश चुनाव से सम्बन्धित एक धारणा है कि मतदाता साम्प्रदायीकरण के आधार पर वोट देते हैं लेकिन चुनावी आँकड़ों के आधार पर इस लोकप्रिय राय का समर्थन नहीं किया जा सकता है। साम्प्रदायिक राजनीति का प्रतीक भाजपा, सही या गलत, 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद राजनीतिक रूप से हाशिए पर थी। विधानसभा चुनावों (1991: 221, 1993: 178, 1996: 174, 2002: 88, 2007: 51, 2012: 47) में बीजेपी के कार्यकाल में यह स्पष्ट है और 1991 में इसकी मतों में हिस्सेदारी 31.5 प्रतिशत से घटकर 2012 में 15.0 प्रतिशत हो गयी थी।[7] वर्ष 2013 के मुजफ्फरनगर दंगों ने राज्य में मौजूदा चुनावी प्रक्रिया को एक साम्प्रदायिक मोड़ प्रदान किया। सपा सरकार मुसलमानों के निगाह से गिर गई, क्योंकि मुसलमानों को लगा कि अखिलेश यादव सरकार उनकी रक्षा करने में विफल रही है।[8] इसके अलावा मुजफ्फरनगर के दंगों के बाद मुलायम के गाँव में भव्य सैफई महोत्सव का आयोजन उनको अच्छा नहीं लगा, क्योंकि दंगा प्रभावित परिवारों के कई बच्चे ठंड और भूख से मर रहे थे।

चूंकि दंगों ने जाट बनाम मुस्लिम का चरित्र ग्रहण किया और राष्ट्रीय लोक दल के सबसे महत्वपूर्ण जाट नेता अजीत सिंह कांग्रेस की अगुवाई वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार में मन्त्री थे, तो इस वजह से मुसलमानों को कांग्रेस से भी निराशा हुई। इस प्रकार सपा, आरएलडी और कांग्रेस चुनावों में मुस्लिम क्रोध का शिकार हुए और उनके इस क्रोध ने बसपा को चुनावी लाभ प्रदान किया। परन्तु मोदी और भाजपा के खिलाफ सम्पूर्ण मत में मुस्लिम ध्रुवीकरण को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि मुसलमानों को भी जाति और वर्ग रेखा में विभाजित किया गया है, उच्च जाति के अशरफों, मध्यम जाति के अजलाफ और निम्न जाति के अर्जल के आर्थिक हित अलग-अलग हैं। अशरफ अमीर, शिक्षित और सशक्त हैं, जबकि अजलाफ और अर्जल ज्यादातर गरीब, कम-शिक्षित और राजनीतिक रूप से हाशिए पर हैं। पसमान्दा (पिछड़ा/दलित) मुस्लिम आन्दोलन का उभरना भी उसी तथ्य की ओर इशारा

करता है; उनका नारा है "शेख, सैयद, मुगल, पठान; कुरसी छोड़ो भाई जान" (शेख, सैयद, मुगल और पठान भाई, कुर्सी खाली करिए)। नव-समृद्ध मध्यम और निम्न जाति/वर्ग के मुसलमान अब राजनीतिक सशक्तीकरण की तलाश कर रहे हैं।

मुसलमानों की यह आकांक्षा समावेशी बनने के लिए भाजपा की पहल के साथ अच्छी तरह से मेल खाती है। नवधनाढ्य मुसलमानों और भाजपा का एक वर्ग मानार्थ सम्बन्धों में प्रवेश कर रहा है, जिसके कारण कट्टर हिन्दुत्व दर्शन हो सकता है और मुसलमानों को अपने मन में भय को दूर करने के अलावा भाजपा के राष्ट्रवादी अभिविन्यास की सराहना करने में मदद मिल सकती है। कई मुस्लिम मौलवियों ने गैर-भाजपा दलों को भाजपा के नाम का उपयोग करके मुसलमानों में भय पैदा करने की कोशिश के लिए बुलाया है, व्यक्तिगत मौलवियों की व्यक्तिगत राय उनके समुदाय के बदलते मानस को दर्शाती है। यह परिवर्तन भाजपा शासित राज्यों जैसे गुजरात, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ और यहाँ तक कि भाजपा-जदयू गठबन्धन वाले बिहार में मुस्लिम अनुभव के कारण आया है, जहाँ उन्हें कोई असुविधा महसूस नहीं हुई होगी; वास्तव में ऐसे कई राज्यों में बेहतर प्रशासन के कारण, मुसलमान समृद्ध और अच्छा महसूस कर सकते थे।[9]

जातिगत गणना में बदलाव एवं धार्मिक गोलबन्दी की जद्दोजहद

उत्तर प्रदेश की चुनावी राजनीति काफी हद तक जाति के ढाँचे के भीतर संचालित है। राज्य में 41.5 प्रतिशत अन्य पिछड़ा वर्ग, 21 प्रतिशत दलित, 18.5 प्रतिशत मुस्लिम और 19 प्रतिशत सवर्ण हैं। 1989 के बाद भाजपा ने छह साल तक यूपी में सत्ता सँभाली और तब से यूपी में बीजेपी के मत प्रतिशत में लगातार गिरावट आई है, 2012 के विधानसभा चुनावों में इसे केवल 15 प्रतिशत वोट मिले थे। राज्य में भाजपा का सबसे अच्छा प्रदर्शन 1998 के लोकसभा चुनावों में था जब उसे 36.5 प्रतिशत वोट और 82 सीटों में 57 सीटें मिलीं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के वाराणसी शहर से मोदी को मैदान में उतारने की भाजपा की रणनीति इस तथ्य पर टिकी है कि वह ओबीसी समुदाय से सम्बन्धित है और पूर्वी उत्तर प्रदेश ओबीसी बाहुल्य इलाका है। इस चुनाव से पहले पार्टी की पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में बहुत बुरी स्थिति थी, उसे 2004 में 29 सीटों में से केवल 2 सीटें और 2009 में 29 सीटों में से केवल 4 सीटें मिलीं। इसी वजह से शायद पार्टी ने राज्य में एक अच्छी चुनावी बढ़त लेने के लिए विकास के साथ जातिगत आयाम को एकजुट करने का लक्ष्य रखा।

राजनीतिक और सामाजिक संरक्षण के बाद पिछड़ी जातियाँ धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से जागरूक होने लगीं, भले ही कुछ लोग इस बात से असहमत हों लेकिन वास्तविकता यह है कि सवर्णों की भाँति दलितों में मुख्यधारा की धार्मिकता के प्रति गहरी निष्ठा पाई जाती है। लेकिन पिछड़े वस्तुत: मुख्यधारा की धार्मिकता के अलावा अपने विशिष्ट धार्मिक वर्चस्व को बनाने के लिए विभिन्न पन्थ और सम्प्रदायों के निर्माण में शामिल होते हुए इनके धार्मिक गुरुओं के अधीन होते आए हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण उत्तर भारत में नाथ सम्प्रदाय का

धार्मिक वजूद है जिसके अखिल भारतीय प्रमुख योगी आदित्यनाथ भाजपा के हिन्दुत्ववादी जीत के नायक और उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री हैं। इसी सम्प्रदाय में शीर्ष स्तर पर द्वितीय की भूमिका रखने वाले महन्त चाँदनाथ अलवर से भाजपा सांसद रह चुके हैं और अब उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्य महन्त बालकनाथ यहाँ से सांसद हैं।

पिछड़ी राजनीति का कांग्रेस और अन्य दलों के साथ कभी चुनावी गठबन्धन रहा है, लेकिन ये पिछड़ा समुदाय अब भाजपा की सांस्कृतिक छतरी के नीचे आ चुका है। यह सुविधा अभी दलित राजनीति के साथ नहीं है, पिछड़ी और दलित राजनीति में यही मूलभूत अन्तर है, जहाँ दलित राजनीति भाजपा से चुनावी गठबन्धन करने के बावजूद उसे धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से अछूत समझती है वहीं पिछड़ी राजनीति अपनी संस्कृति के साथ भाजपा पर संरचनात्मक रूप से कब्जा कर चुकी है। पिछड़े और भाजपा दोनों एकाकार हो गए। हालाँकि यह निश्चित है कि पिछड़ी राजनीति अपने सामुदायिक स्वभाव को छोड़कर नागरिक आधारित राजनीति का हिस्सा अब बनना शुरू होगी। अगर ऐसा होता है तो यह कांग्रेस के लिए राजनीतिक संजीवनी का काम करेगी। जातीय रूप से पिछड़े समुदाय कृषि आधारित रहे हैं और इस कारण इनमें सामुदायिक भावना प्रबल रहती है। ये समाज जिस नेता, दल, पन्थ और गुरु को मानते हैं उसके पीछे पूरा समुदाय लामबन्द हो जाता है। यही कारण है कि पिछड़े समाज से आने वाले बाबाओं और धर्मगुरुओं की पिछले दस सालों में एक ताकतवर उपस्थिति महसूस की गई है।

समाजशास्त्री शिव विश्वनाथन कहते हैं कि मुख्य धारा की राजनीति और मुख्य धारा के धर्म ने इन पिछड़ी जातियों को बराबरी का अहसास नहीं कराया। इसलिए ये समाज अपनी ही जातियों से आने वाले स्वयम्भू बाबाओं के अधीन हो जाते हैं। जाति की भाँति धर्म और राजनीति के मध्य अन्योन्य सम्बन्ध है, इसी प्रक्रिया में वे धर्म और राजनीति के विद्रूप स्वरूप को बताते हैं। धर्म और राजनीति कि अन्योन्याश्रिता पर बल देने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी एक अलग सन्दर्भ में इसे देखते थे, जिसमें सार्वभौमिक धार्मिक मूल्य सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करते थे। दरअसल यह पूर्वी समाजों का संकट है, जहाँ परम्परागत रूप से धार्मिक समाज यूरोप से आयातित राज्य के द्वारा संचालित होने के लिए बाध्य है। जहाँ मुस्लिम दुनिया ने इस आधुनिक राज्य के खिलाफ परम्परागत धर्मतन्त्र का सहारा लिया और वस्तुतः सभी मुस्लिम देशों में धर्मतन्त्रीय राज्य की स्थापना की माँग होती रही है।

वर्तमान वैश्विक राजनीति में तेजी से उभर रहे इस्लामिक आतंकवाद का एक पहलू यह भी है कि अपने पारम्परिक धार्मिक इस्लामिक मूल्यों के तिरस्कार से उपजी कुंठा ने एक हिंसक धर्मतन्त्रीय राज्य का मार्ग प्रशस्त किया। हालाँकि भारत में यह अलग बात है। इसके लिए बहुत हद तक हिन्दू धर्म का गैरपन्थीयतावादी होना है। गाँधी के नेतृत्व में भारतीय राजनीति ने पारम्परिक मूल्यों के साथ अपने को जोड़ा। गाँधी, नेहरू विरासत का एक पहलू यह भी है कि नेहरूवादी पेशेवर राजनेता मूल्यों से युक्त गांधीवादी राजनीति से अपनी वैधानिकता तलाशते आए हैं। इस वैधानिकता की तलाश में हमारे राजनेता धीरे-धीरे विफल हो

रहे हैं और इन परिस्थितियों में जब धार्मिक मूल्यों का अनादर हद से ज्यादा बढ़ जाता है तब विकृत धार्मिक नेतृत्व पैदा होता है जो धर्म की आड़ में राजनीति का राज्याभिषेक करना शुरू कर देता है।

यह बात बेहद दिलचस्प है कि सन्तों में राजनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञों में सन्त की भूमिका निभाने वाले गाँधी ने कभी किसी धार्मिक चौखट को नहीं चूमा। उसका कारण यह था कि गाँधी खुद पारम्परिक धार्मिक मूल्यों के सबसे बड़े स्रोत थे। जब राजनीति की इस शैली का पतन हुआ तो नेताओं के सामने अपनी सामाजिक वैधता का संकट खड़ा हो गया। ऐसी स्थिति में लाखों लोंगों की धार्मिक भावनाओं पर नियन्त्रण रखने वाले ये बाबा राजनीति के सबसे अच्छे वैधानिक क्लब बनकर प्रस्तुत हुए। सुरेन्द्र एस. जोधका लिखते हैं कि समान रूप से एक अहम् कारण यह भी है कि डेरे के गुरु अपने अनुयायियों से एक आचरण संहिता का पालन करने की माँग करते हैं। इनमें सबसे आकर्षक है शराब और दूसरे मादक पदार्थों का सेवन छोड़ने के लिए कहना। लगभग सभी मामलों में घर कि औरतें आध्यात्मिक रूप से इन बाबाओं के प्रति अधिक निष्ठावान होती हैं।

मिथकीय मूल्यों और बाबाओं की निजी करिश्माई अपील के अलावा ये डेरे अपने अनुयायियों में एक किस्म की सुरक्षा की भावना जगाने का भी कार्य करते हैं। साथ ही इसमें एक तरह का व्यक्तिगत रिश्ता भी रहता है जो मुख्यधारा के गुरुद्वारों और मन्दिरों में पूरी तरह से नदारद है जहाँ कोई व्यक्ति अपनी हैसियत भीड़ के हिस्से जितनी पाता है। ये डेरे अपने चरित्र में गैर साम्प्रदायिक हैं भले ही इन्होंने लगभग एक पन्थ का दर्जा हासिल कर लिया हो फिर भी ये अपने अनुयायियों पर किसी खास पन्थ पर चलने के लिए जोर नहीं डालते। कोई व्यक्ति हिन्दू, सिख या मुस्लिम बने रहकर भी डेरे के बाबा या पीर का आशीर्वाद हासिल कर सकता है। वैश्वीकरण के दौर में पूंजी और धर्म दोनों ने मिलकर राजनीति को अपने आगे नतमस्तक करा दिया। वैसे भी हिन्दू धर्म की तत्व मीमांसा धर्म को केन्द्रीयता प्रदान करती है न कि धन को। यही कारण है कि भारत में वामपन्थी राजनीति अपना वो मुकाम हासिल नहीं कर पाई जो उसे पूंजीवादी देशों में मिला।

जाति भेद के उन्मूलन में डॉक्टर अम्बेडकर इसी बात की तरफ इशारा करते हैं कि एक अरबपति व्यक्ति एक साधारण सन्त के चरणों में अपने को समर्पित कर देता है। टी.वी. के उभार ने विशेषकर सन् 2010 के बाद से अन्तहीन बाबाओं के प्रोपेगेन्डा को घर-घर तक पहुँचाया। पहले से ही जातिवादी, सम्प्रदायवादी और अन्धविश्वासी समाज को टी.वी. की चकाचौंध ने और बाबाओं के भव्य और पाँच सितारा आश्रमों ने अपनी कुंठित रूढ़ियों पर गर्व करने का मौका दिया। दरअसल इस पूरे खेल में राजनीति से अधिक आवारा पूंजीवाद का योगदान है। यह अनेक स्तरीय है जहाँ एक तरफ मानसिक रूप से सक्षम एक व्यक्ति, जो बाबा बन गया, द्वारा लोगों पर अपनी पकड़ का मामला है वहीं दूसरी तरफ पूंजीवाद का सुनियोजित षड़यन्त्र है जिसमें कार्पोरेट घरानों, निजी पूंजीपतियों और पैसे वाले लोगों की अहम् भूमिका है। जिसमें टी.वी. ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। जहाँ कुछ चैनल पूरे तरीके से इन धार्मिक

कार्यों के लिए ही खोले गए हैं। वहीं दूसरी तरफ इन बेहद ताकतवर बाबाओं द्वारा मुख्य धारा के चैनलों के प्रसारण स्लॉट खरीद लिए जाते हैं जहाँ बिना ब्रेक के दो-दो घंटे धार्मिक अन्धविश्वास लोगों को धार्मिक रूप से असुरक्षा का बोध कराता है।

इन बाबाओं और धार्मिक गुरुओं के साथ एक बौद्धिक समस्या भी है। जहाँ अनेक बाबाओं की उत्पत्ति मठों और डेरों में सत्ता संघर्ष के षड्यन्त्र से होती है वहीं अनेक बाबा धार्मिक रूप से अशिक्षित होते हैं। किसी भी क्षेत्र के सभी लोग न अच्छे होते हैं न बुरे। गौतम बुद्ध, नानक, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द जैसे महान सन्त हुए हैं वहीं दूसरी तरफ आसाराम, रामपाल, रामरहीम, भीमानन्द, नित्यानन्द, सत्य साईं जैसे बाबा भी हुए हैं जिन्हें कठोर कारावास मिला है तथा जिनके साथ सदैव विवाद जुड़े रहे हैं। ऐसा नहीं है कि भारत में सन्त और महात्माओं की सकारात्मक भूमिका नहीं रही है जिन्होने पूरे समाज को बदलने का कार्य किया हो। परन्तु समय के साथ जब उत्कृष्ट प्रतिभाएँ धार्मिक क्षेत्र में नहीं आती हैं तो धार्मिक रूप से अशिक्षित लोग बाबाओं का चोला पहनकर अपनी धार्मिक सत्ता स्थापित करते हैं जिसे सुनियोजित राजनीतिक और आर्थिक संरक्षण दिया जाता है।

यह एक राजनीतिक सच्चाई है कि भाजपा के उभार ने इस धार्मिक प्राधान्यता को जबरदस्त राजनीतिक संरक्षण प्रदान किया। नब्बे के दशक से ही भाजपा सन्तों के साथ मंच साझा करती आई है और हर अच्छे बुरे कार्य में उनके दुस्साहस को बढ़ाती आती है। इस काम को कांग्रेस और बाकी दल भी करते आए हैं लेकिन उसमें वो सक्रियता नहीं रही जो भाजपा ने दिखाई। वर्ष 2014 के चुनाव से पहले बाबा रामदेव का भाजपा और मोदी को खुला समर्थन तथा हरियाणा विधानसभा चुनावों में रामरहीम का भाजपा को खुला समर्थन इस बात की तरफ इशारा करता है कि एक दक्षिणपन्थी राजनीतिक दल ने धार्मिक सत्ता के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इससे पहले बाबा रामरहीम ने यही कार्य कांग्रेस और इनेलो के लिए किया। जहाँ हरियाणा में रामरहीम ने भाजपा का समर्थन किया वहीं पंजाब में कांग्रेस का समर्थन किया। इसका कारण यह है कि मुख्यधारा की सिख राजनीति अकाली दल के साथ है इसलिए राम रहीम ने वहाँ कांग्रेस का समर्थन किया।

बाबाओं और राजनीति का दखल पुराना है पी.वी. नरसिंहा राव के समय में तान्त्रिक चन्द्रा स्वामी की यही भूमिका रही। हालाँकि चन्द्रा स्वामी के पास अपनी कोई विशिष्ट धार्मिक भीड़ नहीं थी जिसके जरिये वे राजनीतिक सौदेबाजी कर पाते। यह चन्द्रा स्वामी की अपनी व्यक्तिगत तान्त्रिक योग्यता थी जिसके जरिये वह नेताओं को सम्मोहित करते थे। धार्मिक सत्ता के आगे राजनीतिक सत्ता का समर्पण उत्तर प्रदेश में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। जब भाजपा ने पूर्ण बहुमत प्राप्त करने के पश्चात् मुख्यमन्त्री के तौर पर गोरक्ष पीठ के महन्त योगी आदित्यनाथ को प्रदेश के मुख्यमन्त्री हेतु सबसे योग्य पाया और आदित्यनाथ के व्यक्तिगत रुझान के चलते उत्तर प्रदेश, प्रादेशिक राजनीति के लिए एक धार्मिक लैब बन गया है। हाल ही में प्रयागराज (पहले इलाहाबाद) में हुए महाकुम्भ के मेले में सरकार ने अपने दैनिक कार्यों को छोड़कर विभिन्न मठों, सम्प्रदायों के धर्मगुरुओं को रिझाने का काम किया। जातिगत

राजनीति की हद तो तब हो गई जब इसी मेले में दलित धर्मगुरुओं के लिए अलग व्यवस्थाएँ की गई और उसे पहली बार धार्मिक मान्यता दी गई।

उत्तर प्रदेश में तृतीय लोकतान्त्रिक लहर

2014 के लोकसभा चुनाव से लेकर उसके बाद सम्पन्न सभी राज्य चुनावों में और विगत लोकसभा चुनावों में भाजपा ने या तो पूर्ण बहुमत हासिल किया है या फिर वो एकमात्र बड़ी पार्टी के रूप में उभर कर आयी है। वर्ष 2014 के लोकसभा चुनाव में उसने अपने सहयोगी दलों के साथ 80 सीटों में से 73 पर जीत दर्ज की। भाजपा ने ओबीसी जातियों को प्रभावित करने की पुरजोर कोशिश की, जो अब तक सपा के एकाधिकार में रही है। हालाँकि, कुछ पिछड़ी और अति-पिछड़ी जातियों ने मुख्य रूप से कुर्मी, सोनार, लोधी, वाल्मीकि आदि का समर्थन किया है। अपनी सबसे पिछड़ी जाति (तेली) का हवाला देकर, भाजपा का लक्ष्य सबसे पिछड़ों को आकर्षित करना है, जिनकी संख्या यूपी में अभूतपूर्व है। लोकनीति के आँकड़ों में इन चुनावों में मोदी को 25 प्रतिशत दलित मतदाताओं का समर्थन दिखाया गया है जो दर्शाता है कि भाजपा ने मायावती के मूल निर्वाचन क्षेत्र में सेन्ध लगाई है। सामाजिक और आर्थिक रूप से दलितों को सशक्त बनाने के बावजूद दलित मायावती से नाखुश हैं, यह सिर्फ एक प्रतीकात्मक सशक्तीकरण था और साथ ही साथ उनकी सरकार ने उन लोगों का पक्ष लिया, जिन्होंने दलितों के बीच ऊँचे स्थान पर कब्जा किया था। यहाँ तक कि मायावती भी धीरे-धीरे दलित राजनीति के एजेंडे से दूर चली गईं। दूसरे, अन्य क्षेत्रीय दलों की तरह उन्होंने भी अपनी जाति के व्यक्तियों का ही समर्थन किया। तीसरा, सबसे पिछड़े दलित भी बदलाव की आकांक्षा रखते हैं और ब्रांड मोदी से प्रेरित हैं। इसके अतिरिक्त भाजपा विशेष रूप से मुस्लिम विरोधी छवि को सुधारने में सफल रही है। पार्टी की रणनीति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) के स्वयंसेवकों द्वारा बड़े पैमाने पर ग्रामीण लामबन्दी शामिल है जिसमें मुस्लिम लामबन्दी के लिए मुस्लिम स्वयंसेवकों की टीम शामिल है। अखिलेश को पूरी तरह से बदनाम, भ्रष्ट, पक्षपाती और अराजक के रूप में पेश किया गया है इसके अलावा हिन्दू और मुसलमानों में अखिलेश के प्रति नाराजगी है। मुसलमानों के एक वर्ग के साथ उनकी अलोकप्रियता तब स्पष्ट हो गई जब अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के शिक्षकों ने मुलायम सिंह को विश्वविद्यालय में एक सेमिनार को सम्बोधित करने की अनुमति नहीं दी और 2014 के चुनावों में उनका समर्थन नहीं करने का फैसला किया।

निष्कर्ष

यह भारतीय राजनीति का स्याह पक्ष है कि इसमें जाति सदैव प्रमुख निर्धारक के तौर पर बनी रहती है। लेकिन हमने कुछ जातियों को जातिगत राजनीति से अलग पाया है जिनके लिए विकास की राजनीति केन्द्रीय मुद्दा बन गई है। क्षेत्रीय दलों की हार का मुख्य कारण यह है कि अधिकांश क्षेत्रीय दलों पर एक ही परिवार का कब्जा है तथा राजनीतिक पद और लाभ

का वितरण परिवार के बाहर नहीं होता है अथवा एक ही जाति के भीतर लाभ का वितरण होता रहा। जिन्होंने विकास के एजेंडे से ओबीसी के बड़े जनसमूह को अलग रखते हुए कुछ चिह्नित लोगों के विकास को गति दी है। बसपा की राजनीति में भी इसी तरह की चीजों को चिह्नित किया जा सकता है। जो पार्टी ब्राह्मणवादी संस्कृति के खिलाफ खड़ी थी, बाद में उसी से जुड़ गई, उदाहरण के लिए बसपा सुप्रीमो पार्टी के प्रतीक हाथी को एक सार्वजनिक सभा में गणेश के साथ जोड़ती है, जिससे पता चलता है कि पार्टी इस समय अपने मूल सिद्धान्तों से हट गई है। इसलिए ओबीसी मतदाताओं के इन सभी असन्तोष ने उन्हें भाजपा की ओर बढ़ने के लिए मजबूर किया और यही कारण है कि भाजपा ओबीसी समुदायों से समर्थन लेने में सफल हो गई और आज भाजपा पूरी तरह से संगठनात्मक एवं सरकार के स्तर पर पिछड़ी राजनीति की चरम नुमाइन्दगी करती दिखायी दे रही है। जहाँ प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी स्वयं पिछड़ी जाति से आते हैं, यहाँ भाजपा का सवर्ण राजनीति से पूरी तरह पिछड़ी राजनीति में बदल जाना पिछड़ों के राजनीतिक वर्चस्व को बताता है। जिसने अपनी परम्परागत क्षेत्रीय अवधारणा से मुक्त होते हुए मुख्यधारा की राष्ट्रीय राजनीति में प्रत्यक्ष पदार्पण किया।

टिप्पणियाँ

1. पुराने राजनीतिक कयास का आशय मंडल आयोग की सिफारिशों से शुरू होकर अन्य पिछड़ा वर्ग के आरक्षण लागू करने और उसके परिणाम तक जाता है। जिसने आरक्षण को पहचान की राजनीति में गति प्रदान कर दी या यूँ कहें कि इन दोनों की अन्योन्य क्रिया ने राजनीतिक दल और समाज की पदसोपानिकता को गति प्रदान कर दी। इस प्रकार के विमर्श पर सरकारी दस्तावेजों तथा बौद्धिक विमर्शों की अकादमिक जगत में भरमार है उदाहरण के तौर पर देखें;
   - मंडल आयोग की रिपोर्ट http://www.ncbc.nic.in/User_Panel/UserView.aspx?TypeID=1161
   - जेफरलोट, क्रिस्टोफे (2003). इंडियाज साइलेंट रिवोल्यूशन : द राइज ऑफ द लोअर कास्ट इन नॉर्थ इंडिया. नई दिल्ली : परमानेंट ब्लैक
   - सागर, प्रीत (1997). रिजर्वेशन फॉर बैकवर्ड क्लासेस : ए पेर्सपेक्टिव. नई दिल्ली : अस्थान प्रकाशन
   - गलेंटेर, मार्क (1978). हू आर द अदर बैकवर्ड क्लासेस? : एन इंट्रोडक्शन टू अ कंस्टिट्यूशनल पजल. *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 13, 28 अक्टूबर, न. 43/44. पृ. 1812-1828.
2. यद्यपि राजनीतिकि वैधता तथा वैधानीकरण को लेकर लोकतन्त्र में सवाल होते रहते हैं। उत्तर प्रदेश में भाजपा के सत्तारूढ़ होने में भी यह सवाल मूलरूप से कायम रहे। हैबरमास यह बताते हैं कि, वैधता एक ऐसा दावा है जिसकी अभिपुष्टि पर विचार किया जा सकता है। वैधता प्राप्त करने की प्रक्रिया में एक पक्ष अपनी वैधता पर जोर देता है और दूसरा पक्ष इससे इनकार करता है इस तरह वैधता की समस्या एक राजनीतिक व्यवस्था की अस्थाई समस्या बन जाती है। विस्तृत जानकारी के लिए देखें;
   - कुँवर प्रांजल सिंह. (2019). लोकतन्त्र के मद्देनजर समाज की सदाएँ. प्रतिमान; समय समाज संस्कृति. जुलाई-दिसम्बर, वर्ष 7, अंक 14, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 186
3. https://www.bbc.com/hindi/india-47925242 देखा गया : 14 फरवरी 2020 को

4. विस्तृत जानकारी के लिए देखें : नारायण, बद्री (2014). हिन्दुत्व का मोहिनी मन्त्र. नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.

5. विस्तृत व्याख्या के लिए देखें;
   - सेठ, धीरूभाई (2009). सत्ता और समाज. प्रस्तुति एवं सम्पादन अभय कुमार दुबे. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन
   - दुबे, अभय कुमार (2005). लोकतन्त्र के सात अध्याय. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन

6. यादव, योगेन्द्र (2005). द्वितीय लोकतान्त्रिक उभार. अभय कुमार दुबे (सं). लोकतन्त्र के सात अध्याय. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 112

7. वर्मा, ए.के. (2014) उत्तर प्रदेश : कम्युनल पोलराइजेशन वर्सेस कास्ट कैल्कुलस, *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली,* वोल्यूम 49, नं. 18, 3 मई, अधिक जानकारी के लिए लिंक खोलें - https://www.epw.in/journal/2014/18/election-specials-web-exclusives/uttar-pradesh-communal-polarisation-vs-caste

8. प्रोफेसर बद्री नारायण चेतन भगत द्वारा उद्बोधित एबीपी टीवी के कार्यक्रम सेवेन आरसीआर में यह बात रखते हैं, अधिक जानकारी के लिए देखें - https://www.youtube.com/watch?v=G4DFhW6znxQ

9. एस. रुक्मणी (2019). रिटर्न टू द बीजेपी इन पॉवर : इंडियन डेमोक्रेसी एंड रिलीजियस नेशनलिज्म, ऑनलाइन वेबसाइट पर उपलब्ध; https://carnegieendowment.org/2019/04/04/bjp-s-electoral-arithmetic-pub-78678

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ओम्मन, टी.के. (2013). *नॉलेज एंड सोसाइटी : सिचुएटिंग सोशियोलॉजी एंड सोशल एन्थ्रोपोलोजी.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

कोठारी, रजनी (2002). 'द कांग्रेस सिस्टम इन इंडिया'. जोया हसन (सं). *पार्टीज एंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इंडिया.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

कोहली, अतुल (1994). 'सेंट्रलाइजेशन एंड पॉवरलेसनेस : इंडियाज डेमोक्रेसी इन ए कम्परेटिव पर्सपेक्टिव'. जोएल एस मिग्डल, अतुल कोहली एंड विविन्ने शू (सं). *स्टेट पॉवर एंड सोशल फोर्सेस : डोमिनेशन एंड ट्रांसफॉरमेशन इन द थर्ड वर्ल्ड.* कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

कोहली, अतुल (सं). (1988). *इंडियाज डेमोक्रेसी : एन एनालिसिस ऑफ चेंजिंग स्टेट-सोसाइटी रिलेशन.* न्यू जर्सी : प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस

गलेंटेर, मार्क (1978). 'हू आर द अदर बैकवर्ड क्लासेस? : एन इंट्रोड्क्शन टू अ कंस्टिट्यूशनल पजल', *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 13, न. 43/44. 28 अक्टूबर, पृ. 1812-1828.

गुप्ता, तिलक (1992). 'द यादव एक्सेंडेंसी इन बिहार पॉलिटिक्स'. *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 27, न. 26. 27 जून, पृ. 1304-1306.

चन्द्रा, कंचन (1999). 'पोस्ट-कांग्रेस पॉलिटिक्स इन उत्तर प्रदेश : द इलेक्शन ऑफ द पार्टी सिस्टम एंड इट्स कोन्सिक्वेन्स'; रामाश्रय रॉय एंड पौल वालेस (सं). *इंडियन पॉलिटिक्स एंड द 1998 इलेक्शन : रीजनलिज्म, हिन्दुत्व एंड स्टेट पॉलिटिक्स.* नयी दिल्ली : सेज पब्लिकेशन

छिब्बर, प्रदीप के. एंड जॉन आर. पेट्रोइक (2002) 'सोशल क्लीवेज, इलेक्शन एंड द इंडियन पार्टी सिस्टम'. जोया हसन (सं). *पार्टीज एंड पार्टी सिस्टम इन इंडिया.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

जेफरलोट, क्रिस्टोफे (1998). *व्हाई शुड वी वोट? : द इंडियन मिडिल क्लास एंड द फंक्शनिंग ऑफ द वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डेमोक्रेसी रीलीजन, कास्ट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया.* नयी दिल्ली : प्राइमस

जेफरलोट, क्रिस्टोफे (2000) 'द राइज ऑफ द अदर बैकवर्ड क्लास इन द हिन्दी बेल्ट'. *द जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज,* 59, न. 1, फरवरी. पृ. 86-108.

झा, दयाधर (1977). *स्टेट लेजिसलेचर इन इंडिया : लेजिसलेचर इन द इंडियन पोलिटिकल सिस्टम.* नयी दिल्ली : अभिनव पब्लिकेशन

डीसूजा, पीटर आर. (2001). 'व्हूज रिप्रजेंटेटिव?'. *सेमिनार 506,* पृ. 57-61

दुबे, अभय कुमार (2002). *आधुनिकता के आईने में दलित.* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन

दुबे, अभय कुमार (2005). *लोकतन्त्र के सात अध्याय.* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन

दुबे, अभय कुमार (2016) (सं). *सेकुलर/साम्प्रदायिक : एक भारतीय उलझन के कुछ आयाम.* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन

दुबे, अभय कुमार (2019). *हिन्दू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति.* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन

नारायण बद्री (1996). *लोक संस्कृति में राष्ट्रवाद.* नयी दिल्ली : लोक भारती प्रकाशन

नारायण बद्री (2014). *दलित वीरांगनाएँ और मुक्ति की चाह.* नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन

नारायण बद्री (2021). *रिपब्लिक ऑफ हिन्दुत्व : हाउ द संघ इज रीशेपिंग इंडियन डेमोक्रेसी.* नयी दिल्ली : पेंग्विन इंडिया

नारायण, बद्री (2014). *हिन्दुत्व का मोहिनी मन्त्र.* नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन

नारायण, बद्री (2018). *खंडित आख्यान : भारतीय जनतन्त्र में अदृश्य लोग.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

पल्सिकर, सुहास (2008). 'चैलेंजेज बिफोर द रिजर्वेशन डिस्कोर्स'. *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 43, न. 17, पृ. 8-11.

प्रसाद, ईश्वरी (1986). *रिजर्वेशन : एक्शन फॉर सोशल इक्वलिटी.* नयी दिल्ली : क्राइटेरियन पब्लिकेशन

ब्रास, पॉल (1994). *द पोलिटिक्स ऑफ इंडिया सिंस इंडेपेंडेंस.* कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

ब्लू, वांग ची (2003). *द साइंटिफिक आउटलुक ऑफ बुद्धिज्म*

ब्लेयर, हैरी डब्ल्यू (1980). 'राइजिंग कुलक्स एंड बैकवर्ड क्लासेस इन बिहार : सोशल चेंज इन द लेट 1970'. *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 15, न. 2 पृ. 64-74.

माथुर, एम.एल. (2004). *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ बैकवर्ड कास्ट्स.* नयी दिल्ली : कल्पाज पब्लिकेशन

मिशेलूटी, लूसिया (2004). 'वी (यादवाज) आर ए कास्ट ऑफ पोलिटिसियंस : कास्ट एंड मॉडर्न पॉलिटिक्स इन ए नॉर्थ इंडियन टाउन'. *कॉन्ट्रिब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी,* 38, इश्यू 1-2. फरवरी 1, पृ. 43-71.

मैकमिलन, एलिस्टियर (2001). 'पापुलेशन चेंज एंड द डेमोक्रेटिक स्ट्रक्चर'. *सेमिनार 506,* पृ. 50-56.

यादव, योगेन्द्र (2000). 'अंडरस्टैंडिंग द सेकेंड डेमोक्रेटिक अपसर्ज : ट्रेंड्स ऑफ बहुजन पोलिटिकल पार्टिसिपेशन इन एलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन द नाइटीन नाइटीज. फ्रांसिस आर फ्रैंकेल', जोया हसन, राजीव भार्गव, बलवीर अरोड़ा (सं). *ट्रांसफॉर्मिंग इंडिया : सोशल एंड पोलिटिकल डाइनेमिक्स ऑफ डेमोक्रेसी.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

यादव, योगेन्द्र एंड सुहास पल्सीकर (2006). 'पार्टी सिस्टम एंड इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन द इंडियन स्टेट्स, नाइटीन फिफ्टी टू टू थाउजेंड टू : फ्रॉम हेजेमनी टू कन्वरजेंस'. पीटर आर. डिसूजा एंड ई. श्रीधरन (सं). *इंडियाज पोलिटिकल पार्टीज.* नयी दिल्ली : सेज पब्लिकेशन

रॉय, हिमांशु, एम.पी. सिंह, ए.पी.एस. चौहान (सं). (2017). *स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया.* नयी दिल्ली : प्राइमस

लुईस, डविमोंट (1988). *होमो हैरार्कियस : द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्प्लीकेशन.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

वर्मा, ए.के. (2014). 'इज मुस्लिम वोटिंग बिहैवियर चेंजिंग'. *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली.*

शर्मा, रुचिर (2019). *लोकतन्त्र वाया सड़क मार्ग.* नयी दिल्ली : पेंगुईन बुक्स

शापिरो, आई. (1999). *डेमोक्रेटिक जस्टिस न्यू हेवेन.* यूएसए : येल यूनिवर्सिटी प्रेस

श्रीधरन, ई. (2002). 'द फ्रैगमेंटेशन ऑफ द इंडियन पार्टी सिस्टम, नाइटीन फिफ्टी टू - नाइटीन नाइटी नाइन'. जोया हसन (सं). *पार्टीज एंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इंडिया.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

श्रीधरन, ई. (2001). 'रिफोरमिंग पोलिटिकल फाइनांस'. *सेमिनार 506.* पृ. 29-36.

सागर, प्रीत (1997). *रिजर्वेशन फॉर बैकवर्ड क्लासेस : ए पेर्सपेक्टिव.* नयी दिल्ली : अस्थान प्रकाशन

सेठ, धीरूभाई (2009). *सत्ता और समाज.* प्रस्तुति एवं सम्पादन अभय कुमार दुबे. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन

हसन, जोया (1998). *क्वेस्ट फॉर पॉवर : अपोजिशनल मूवमेंट्स एंड पोस्ट-कांग्रेस पॉलिटिक्स इन उत्तर प्रदेश.* नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

हसन, जोया (2009). *पॉलिटिक्स ऑफ इंक्लूजन : कास्ट, माइनोरिटीज एंड अफर्मेटिव एक्शन.* नयी दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

http://articles.economictimes.indiatimes.com/2014-04

https://www.wisdomlib.org/buddhism/book/the-scientific-outlook-of-buddhism/d/doc2238.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 55-67)

जनजातीय समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन : एक समाज वैज्ञानिक विश्लेषण

अरुण कुमार उपाध्याय*

भारत में अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं जो देश के प्रत्येक भाग में फैली हुई हैं। भारतीय जनजातियों का भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण मे महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय जनजातियों ने अन्य समूहों की कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण भी किया है, इसके बावजूद वे अपनी प्राचीन सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण सभ्य समाजों से कुछ भिन्न हैं। पर वर्तमान समय में यह समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। उनके सांस्कृतिक जीवन में अनेक परिवर्तन दिखायी दे रहे हैं। आज यह समाज सर्वथा अलग-थलग न रह कर राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़ने का प्रयास कर रहा है। साथ ही जनजातीय अंचलों में विकास की प्रक्रिया कुछ दशकों से संचालित है जिस कारण उनकी विशिष्ट जीवनशैली, सांस्कृतिक विशेषताओं और सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ना शुरू हो गया। प्रजातान्त्रीकरण, संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं ने जनजातीय जीवनशैली को अधिक प्रभावित किया। अतएव यह आवश्यक है कि जनजातियों की विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन में आ रहे परिवर्तनों को विश्लेषित करने का प्रयास किया जाये। प्रस्तुत शोध आलेख में जनजातीय समाज में हो रहे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

*प्राध्यापक समाजशास्त्र, शासकीय एम.जे.एस. महाविद्यालय, भिण्ड (म.प्र.)
E-mail: arun.gahmari@gmail.com

जनजातीय समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन से सम्बन्धित यह शोध-पत्र एक शोध अध्ययन पर आधारित है जो मध्यप्रदेश के शिवपुरी जिले में सम्पादित किया गया। समय एवं साधन की सीमा को ध्यान में रखते हुए शिवपुरी जिले की सात तहसीलों में से कुल चार विकासखण्डों - शिवपुरी, कोलारस, पोहरी और पिछोर को अध्ययन क्षेत्र के रूप मे चुना गया। चार विकासखण्डों से चार गाँवों - शिवपुरी, सुनोज, बीलवरमाता और मानपुरा का चयन किया गया। ये गाँव ऐसे थे जहाँ सहरिया जनजातियों की संख्या सर्वाधिक थी। चार गाँवों से सबसे पहले कुल सहरिया परिवारों की संख्या ज्ञात की गयी जो 450 थी, इनमें दैवनिदर्शन विधि का प्रयोग कर 50 प्रतिशत परिवारों को निदर्श में सम्मिलित किया गया है। अध्ययन की इकाई में परिवार की महिला को मुखिया माना गया। इनका चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि वे समग्र का प्रतिनिधित्व करने वाली हों। तथ्य संकलन हेतु साक्षात्कार अनुसूची एवं अवलोकन विधि का प्रयोग किया गया है। साक्षात्कार अनुसूची में सहरिया महिलाओं के परिवार के स्वरूप, वैवाहिक स्थिति, विवाह की पद्धति, सामाजिक-सांस्कृतिक विश्वास और तत्सम्बन्धी मान्यताएँ, धार्मिक जीवन में आने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित बिन्दुओं को सम्मलित किया गया और उनसे इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की गयी। स्वतन्त्र रूप से उन्हें अपनी बात कहने का अवसर प्रदान किया गया, ताकि वे अपनी भावनाओं को स्वच्छन्दतापूर्वक व्यक्त कर सकें और प्राप्त तथ्य प्रमाणित और विश्वसनीय हो सकें। अध्ययन की उपलब्धियों को हम निम्न बिन्दुओं में रख रहे हैं -

निवास

सहरिया अत्यन्त पिछड़ी हुई कोलारियन परिवार की जनजाति है। यह जनजाति मुख्यत: ग्वालियर, भिंड, मुरैना, दतिया, शिवपुरी, गुना, अशोकनगर, विदिशा, रायसेन और सिहोर जिले में पायी जाती है। ये अपने आप को भीलों का छोटा भाई मानते हैं तथा रामायणकालीन शबरी के वंशज बताते हैं। सौरी से उत्पन्न होने के कारण ये शबर, सवर, सोर, और सहरिया कहलाये।

पारिवारिक संरचना

परिवार सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक संस्था के रूप में समाज की निरन्तरता को बनाये रखने वाली समाज की मूलभूत संस्था है। मैकाइवर और पेज (1953) का मत है कि परिवार यौन सम्बन्धों द्वारा परिभाषित एक निश्चित एवं दीर्घकालीन समूह है जो बच्चों का प्रजनन एवं लालन पालन करता है। उनमें अन्य रक्त सम्बन्धी भी होते हैं पर मुख्य रूप से उनकी रचना स्त्री-पुरुष और बच्चों के साथ रहने से होती है। इनके साथ रहने से जो इकाई बनती है उसे परिवार कहते हैं। इस प्रकार सार्वभौमिकता, भावनात्मक आधार, रचनात्मक प्रभाव, सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति, सीमित आकार एवं सदस्यों का दायित्व, सामाजिक नियमन और परिवार का अस्थायी या स्थायी स्वरूप मुख्य विशेषताओं के रूप में

बताया जा सकता है। ये सभी विशेषताएँ भारतीय जनजातियों पर भी लागू होती हैं। देसाई 1955, रास 1961, शर्मा 1964, नायक 1979 आदि विद्वानों ने परिवार का गठन, उसकी प्रकृति और संरचनात्मक विशेषताओं पर गहन अध्ययन किया। इन विद्वानों ने औद्योगीकरण, नगरीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के फलस्वरूप परिवार की संरचना में हो रहे परिवर्तनों पर विशेष प्रकाश डाला है। इस सन्दर्भ में उत्तरदाताओं से उनके परिवार की संरचना के विषय में जानकारी प्राप्त की गयी। प्राप्त तथ्यों को निम्न सारणी में रखा जा रहा है -

सारणी 1

परिवार का स्वरूप

परिवार का स्वरूप	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
संयुक्त परिवार	81	36.0
एकाकी परिवार	139	61.8
एकल इकाई परिवार	5	2.2
योग	225	100.0

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी से प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि एक तिहाई (36 प्रतिशत) उत्तरदाता संयुक्त परिवार में और 61.8 प्रतिशत उत्तरदाता एकाकी परिवारों में रह रहे हैं। आरम्भ में सहरिया समाज में संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन रहा है, पर अब इस जनजाति में संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकाकी परिवारों का चलन तेजी से बढ़ता जा रहा है। उत्तरदाताओं का मानना है कि परिवार में मकान छोटे होने और मजदूरी पर आश्रित होने के कारण एकाकी परिवारों का प्रचलन बढ़ रहा है। उत्तरदाताओं ने यह भी स्पष्ट किया कि सास-ससुर का कठोर प्रतिबन्ध होने के कारण पति-पत्नी स्वतन्त्र रूप से मिल नहीं पा रहे और न ही वे अपने बच्चों को उचित आहार और प्यार दे पा रहे हैं। अतएव ये लोग संयुक्त परिवार को छोड़ कर एकाकी परिवारों को पसन्द करते हैं। इस प्रकार प्राप्त तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि परिवार के स्वरूप में आज बदलाव हो रहा है। इस बदलाव का मुख्य कारण पारिवारिक दायित्व के बोध में कमी, व्यक्तिवादिता में वृद्धि, दिखावे की प्रवृत्ति, शहरी सभ्यता का सम्पर्क और आकर्षण, औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया का तीव्र विकास मुख्य है। चूँकि सर्वेक्षित गाँव शिवपुरी जिले से जुड़े हुए हैं अतएव विकास के आधुनिक संसाधन परिवार के स्वरूप को प्रभावित कर रहे हैं।

के.एम. कपाडिया (1959) का मत है कि औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप पारिवारिक संरचना में तीव्र परिवर्तन हो रहा है। इस कारण व्यक्ति एकाकी परिवारों की ओर उन्मुख हो रहे हैं। इससे जनजातीय समाज भी अछूता नहीं है।

वाचिक परम्परा

भाषा संचार का एक सशक्त माध्यम है जो सामाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियों, अनुभवों एवं भावनाओं को व्यक्त करता है। प्रशासनिक कार्यों का संचालन करने के लिये भारतीय संविधान में 22 भाषाओं का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में उत्तरदाताओं से उनकी वाचिक परम्परा विशेषकर उनकी बोली को जानना आवश्यक था। उनसे उनकी बोली के विषय में जानकारी प्राप्त की गयी। प्राप्त तथ्यों को निम्न सारणी में रखा जा रहा है -

सारणी 2
उत्तरदाताओं की वाचिक परम्परा

भाषा का स्वरूप	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
ब्रज बोली	28	12.4
मुण्डारी	-	-
मिश्रित बुन्देली	191	84.9
हिन्दी	06	2.7
योग	225	100.0

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी में उत्तरदाताओं की भाषा या बोली के स्वरूपों से सम्बन्धित तथ्यों को रखा गया है। अवलोकन से यह स्पष्ट हुआ कि सहरिया समाज की वाचिक परम्परा समृद्ध रही है। उनकी कोई सुनिश्चित बोली तो नहीं है, पर सर्वाधिक उत्तरदाता ब्रज बोली और मिश्रित बुन्देली बोली बोलते हैं। कुछ उत्तरदाता हिन्दी भी बोलना जानते हैं। चर्चा के दौरान वृद्ध महिलाओं ने बताया कि पुराने समय में हमारे यहाँ मुण्डारी बोली बोलते थे, पर अब यह विस्मृत सी हो गयी है।

वैवाहिक स्थिति

सामाजिक संगठन का एक प्रमुख आधार विवाह सम्बन्ध है। सृष्टि के आरम्भ से ही मानव मात्र की जिजीविषा में प्रेम, काम, सामाजिकता और यौन भावना की प्रमुखता रही है। जैविकीय, मनोवैज्ञानिक, सामजिक एवं नैतिक दृष्टि से प्रेम की मनोवृत्ति मनुष्य की केन्द्रीय चेतना को सर्वाधिक प्रभावित करती है। मनुष्य की मनोवृत्तियों के सम्यक् परिशोधन एवं विकास और उसमें परिवर्तन की स्वीकृति सर्वमान्य रही है। इस स्तर पर उत्तरदाताओं की वैवाहिक स्थिति को समझना अति आवश्यक है। विवाह व्यक्ति को एक नयी प्रस्थिति प्रदान करता है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर सके। निम्न सारणी में उत्तरदाताओं की वैवाहिक स्थिति को रखा गया है -

सारणी 3
उत्तरदाताओं की वैवाहिक स्थिति

वैवाहिक स्थिति	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
अविवाहित	05	2.2
विवाहित	209	92.9
तलाकशुदा	02	0.9
विधवा पुनर्विवाह	09	4.0
योग	225	100

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी से प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सर्वाधिक 92.9 प्रतिशत उत्तरदाता विवाहित हैं और 2.2 प्रतिशत अविवाहित हैं। अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि सहरिया जनजातियों में एक-विवाह प्रथा का प्रचलन है। एक समय में एक स्त्री एक पुरुष के साथ ही विवाह कर सकती है, किन्तु पति की मृत्यु के पश्चात् सहरिया पंचायत की अनुमति से दूसरा विवाह कर सकती है। इनके यहाँ विधवा विवाह का भी प्रचलन है। पति की मृत्यु के पश्चात् पंचायत की अनुमति से गोत्र के नियमों का पालन करते हुए दूसरे पुरुष के साथ रहने की अनुमति दे दी जाती है। विधवा स्त्री को इनके यहाँ खाली कहा जाता है और खाली स्त्री को घर में नहीं रखा जा सकता। यहाँ 4 प्रतिशत उत्तरदाता विधवा हैं जिनको शीघ्र ही विवाह की अनुमति मिलने की सम्भावना है। सहरिया समाज में तलाक जैसी कोई औपचारिक प्रथा तो नहीं है पर थोड़ा-बहुत आपसी विवाद होने पर पत्नी द्वारा पति को या पति द्वारा पत्नी को छोड़ दिया जाता है। ऐसे उत्तरदाताओं की संख्या अत्यन्त न्यून है। इस प्रकार अध्ययन में पाया गया कि उत्तरदाताओं के एक न्यून भाग को छोड़ कर शेष सभी वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जी.पी. द्विवेदी (2003) ने रीवा की कोल जनजातियों के सामाजिक परिवेश का अध्ययन किया और पाया कि सहरिया परिवारों की भाँति कोल परिवारों में भी एक-विवाह प्रथा का ही प्रचलन है जबकि विधवा-विवाह का निषेध है। हमने अपने अध्ययन मे देखा कि सहरिया परिवार में एक-विवाह प्रचलन के साथ-साथ विधवा पुनर्विवाह की भी मान्यता है। इस प्रकार हमारा अध्ययन जी.पी. द्विवेदी के अध्ययन से कुछ सीमा तक ही मेल खाता है।

विवाह की पद्धति

परम्परागत समाज में विवाह को एक अनिवार्य सार्वभौमिक परम्परा के रूप में जाना जाता रहा है। सहरिया समाज में यह मान्यता है कि विवाह जीवन का सबसे सुन्दर अवसर है। इनके यहाँ चार प्रकार की विवाह पद्धतियाँ प्रचलित हैं - सगाई विवाह, झगड़ा विवाह, विधवा विवाह, झाराफेरा विवाह। इस सन्दर्भ में उत्तरदाताओं से यह पूछा गया कि आप का विवाह इसमें से किस विधि के द्वारा सम्पन्न हुआ है। प्राप्त उत्तरों को निम्न सारणी में रखा गया है -

सारणी 4
विवाह की विधि

विवाह की विधि	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
सगाई विवाह	204	92.7
झगड़ा विवाह	05	2.3
विधवा विवाह	09	4.1
झाराफेरा विवाह	02	0.9
योग	220	100.0

(05 उत्तरदाता अविवाहित हैं इसलिये उनको इसमे सम्मलित नहीं किया गया।)
स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी में प्राप्त तथ्य स्पष्ट करते हैं कि सहरिया समाज में सगाई विवाह को सर्वोत्तम माना जाता है और सर्वाधिक उत्तरदाताओं का विवाह इसी विधि से हुआ है। सगाई विवाह दोनों पक्षों की आपसी सहमति से सम्पन्न होता है। लगभग 2.3 प्रतिशत उत्तरदाताओं का विवाह झगड़ा विधि से हुआ है। विवाहित स्त्री को भगा कर या स्वयं भाग जाने की स्थिति में झगड़ा दे कर विवाह किया जा सकता है। अवलोकन से यह सपष्ट हुआ कि झगड़े का निर्णय सहरिया पंचायत करती है, जिसमें अर्थदण्ड की व्यवस्था होती है जो 200 से 2000 रुपये तक हो सकता है। 4.5 प्रतिशत उत्तरदाता विधवा हैं जिनका पुनर्विवाह होना है। केवल 2 उत्तरदाताओं का विवाह झाराफेरा विधि से हुआ है। झाराफेरा विवाह विशिष्ट होता है। उत्तरदाताओं से चर्चा के दौरान पता चला कि यदि किसी लड़की का विवाह सम्बन्ध एक जगह तय हो जाये और उसके बाद बलपूर्वक उसकी शादी दूसरी जगह कर दी जाये तो ऐसी स्थिति में पूर्व लड़के वाले लड़की का अपहरण कर लेते हैं ओर अपने लड़के के साथ भाँवर या फेरे कर देते हैं। इस प्रकार प्राप्त तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि सहरिया समाज में सगाई विवाह को ही सर्वोत्तम विधि माना गया है और उसी के अनुसार उनका विवाह होता है। यह अध्ययन जी. पी. द्विवेदी के अध्ययन से भिन्न निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। जी.पी. द्विवेदी ने कोल परिवारों के अध्ययन में स्पष्ट किया है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया ने वैवाहिक क्रियाओं को प्रभावित किया है पर सहरिया जनजाति के लोग प्राचीन पद्धति सगाई विवाह को ही उचित मानते हैं।

जीवनसाथी का चयन

विवाह एक सार्वभौमिक घटना है जिसका मुख्य उद्देश्य जीवनसाथी प्राप्त करना, यौन सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करना तथा बच्चों को जन्म देना है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर भारतीय परिवारों में माता-पिता अपने बच्चों के लिये साथी का चयन करते हैं। हाल के कुछ वर्षों में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण की प्रकिया से साथी के चयन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पर जनजातीय समाज में साथी का चयन बहुत

ही रूढ़िवादी या जटिल होता है। इसलिये जनजातीय समाज के लोग आज भी विवाह एवं साथी के चयन के लिये अपनी प्रथा और परम्पराओं पर ही निर्भर हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उत्तरदाताओं से जीवनसाथी प्राप्त करने के प्रति उनकी मनोवृत्तियों को जानने का प्रयास किया गया है।

सारणी 5

जीवनसाथी प्राप्त करने का तरीका

जीवनसाथी चयन का तरीका	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
स्वयं द्वारा	40	17.8
माता-पिता द्वारा	131	58.2
स्वयं और माता-पिता द्वारा	11	4.9
परिवार के सदस्यों द्वारा	31	13.8
समुदाय के मुखिया द्वारा	2	0.9
रिश्तेदारों और मित्रों द्वारा	05	2.2
योग	220	100

(5 उत्तरदाता अविवाहित हैं इसलिये उनको इसमें शामिल नहीं किया गया।)

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी में प्राप्त तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि सर्वाधिक उत्तरदाताओं का विवाह अपने माता-पिता की इच्छा और उनके द्वारा चयनित जीवनसाथी के साथ ही हुआ है जबकि 17.8 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने अपने साथी का चयन स्वयं ही किया है। 13.8 प्रतिशत उत्तरदाताओं का विवाह परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा चयनित साथी के साथ हुआ, वहीं 2.2 प्रतिशत उत्तरदाताओं का रिश्तेदारों और मित्रों द्वारा साथी का चयन किया गया। अत: स्पष्ट है कि जीवनसाथी के चयन के सम्बन्ध में सहरिया समाज में स्वयं द्वारा साथी चयन करने की शक्ति कम है। वे साथी चयन हेतु अपने माता-पिता, परिवार के अन्य सदस्य या रिश्तेदारों एवं मित्रों पर ही निर्भर हैं।

विवाह के समय आयु

विवाह के लिये आयु का निर्धारण एक महत्वपूर्ण पक्ष है। केवल वयस्क व्यक्ति ही इस नये उत्तरदायित्व को सँभालने के योग्य होता है। आयु व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक पक्ष को मजबूत करने में सहायक होती है। इसलिये भारतीय संविधान में विवाह की आयु लड़कियों के लिये 18 वर्ष और लड़को के लिये 21 वर्ष निर्धारित कर दी गयी है। प्रस्तुत अध्ययन में आयु समूह और विवाह के लिये निर्धारित आयु के बीच सम्बन्धों को विश्लेषित किया जा रहा है। उत्तरदाताओं से यह पूछा गया कि आप का विवाह किस आयु में हुआ था। प्राप्त उत्तरों को हम निम्न सारणी में रख रहे हैं -

सारणी 6
विवाह के समय आयु

आयु समूह	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
18 वर्ष से कम	80	36.4
18-21	132	60.0
21-24	4	1.8
24-27	3	1.3
27 वर्ष से अधिक	1	0.5
योग	220	100

(05 उत्तरदाता अविवाहित हैं इसलिये उन्हें इसमें सम्मलित नहीं किया गया।)
स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी में सहरिया जनजाति की महिलाओं की विवाह आयु को रखा गया है। आरम्भ में सहरिया समाज में बालविवाह की प्रथा थी और आज भी कमोबेश है पर अब वयसन्धि पार होने के बाद ही विवाह सम्पन्न हो रहे हैं। अवलोकन से यह स्पष्ट हुआ कि केवल 36.4 प्रतिशत उत्तरदाताओं का विवाह 18 वर्ष से कम आयु मे हुआ था। शेष उत्तरदाताओं का विवाह 21-27 वर्ष के बीच सम्पन्न हुआ। इस प्रकार यह तथ्य दर्शाते हैं कि सहरिया समाज में विवाह की आयु एक आदर्श धारणा है जो परिवर्तन एवं सशक्तीकरण की प्रक्रिया को दर्शाता है।

विवाह पद्धति में परिवर्तन के प्रति दृष्टिकोण

उत्तरदाताओं की वैवाहिक स्थिति, जीवनसाथी प्राप्त करने के तरीके एवं विधियों तथा विवाह की आयु सम्बन्धी तथ्यों के विश्लेषण उपरान्त उनसे विवाह पद्धति में आ रहे परिवर्तनों पर उनकी मनोवृत्ति जानी गयी। उनके सामने कुछ विकल्प रखे गये और उन पर उनकी प्रतिक्रिया जानी गयी। प्राप्त प्रतिक्रियाओं को निम्न सारणी में रखा जा रहा है -

सारणी 7
विवाह पद्धति में परिवर्तन के प्रति दृष्टिकोण

परिवर्तन के क्षेत्र	सहमत (प्रतिशत)	असहमत (प्रतिशत)	तटस्थ (प्रतिशत)	योग
विवाह के स्वरूप में परिवर्तन	91	7	2	100
विवाह की आयु में परिवर्तन	85	9	6	100
साथी के चुनाव की प्रक्रिया में परिवर्तन	31	61	8	100
विवाह की पद्धति एवं रीतियों में परिवर्तन	35	59	6	100
सन्तान के महत्व में परिवर्तन	39	57	4	100
अन्तर्विवाह में परिवर्तन	12	83	5	100
विवाह के आर्थिक पहलू में परिवर्तन	17	80	3	100

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी में प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि सहरिया समाज में विवाह के परम्परागत स्वरूप मे परिवर्तन हो रहा है। सर्वाधिक उत्तरदाताओं ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि हमारा समाज बहु-विवाह से एक-विवाह की ओर बढ़ रहा है। आज सहरिया समाज में एक-विवाह प्रथा का ही प्रचलन है। एक समय में एक स्त्री एक पुरुष के साथ ही विवाह कर सकती है। सहरिया जनजातियों में बालविवाह प्रथा का प्रचलन था। लड़कों में विवाह की आयु 10-15 वर्ष के बीच और लड़कियों में विवाह की आयु 5-15 वर्ष मान्य की गयी थी, पर अब विवाह की आयु में परिवर्तन आ रहा है। अर्थात् सहरिया समाज बालविवाह से यौवन प्राप्ति के पश्चात् विवाह की ओर उन्मुख हो रहा है। इस सन्दर्भ में 85.1 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इस पर सहमति व्यक्त की है। साथी के चुनाव की प्रक्रिया और वैवाहिक रीति-रिवाज के परिवर्तन पर उत्तरदाताओं ने असहमति व्यक्त की है। उत्तरदाताओं का मानना है कि साथी का चुनाव आज भी माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा ही किया जाना चाहिये। साथ ही विवाह की परम्परागत पद्धति सगाई विवाह में किसी प्रकार का परिवर्तन स्वीकार्य नहीं होगा। लेकिन एक तिहाई उत्तरदाताओं ने इस पर अपनी सहमति व्यक्त की है कि साथी के चुनाव की प्रक्रिया एवं वैवाहिक रीति-रिवाज में परिवर्तन किया जाना चाहिये। इन उत्तरदाताओं का मानना है कि अब विवाह के आधुनिक साधनों का प्रयोग किया जाने लगा है। 39 प्रतिशत सहरिया महिलाओं ने सन्तान उत्पत्ति के महत्व और उनके पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति के महत्व के परिवर्तन के प्रति सहमति व्यक्त की है जबकि आधी से अधिक उत्तरदाता की संख्या सन्तान के रूप में पुत्र को ही महत्ता प्रदान करती हैं। अन्तर्विवाह में परिवर्तन को केवल 12 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने स्वीकार किया है जबकि 83 प्रतिशत उत्तरदाता अपने ही समाज में विवाह को उचित मानते हैं। 17 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने विवाह के आर्थिक पहलु वधू मूल्य में परिवर्तन को स्वीकारा है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहरिया समाज में विवाह के परम्परागत स्वरूप, विवाह की आयु और वधू मूल्य में परिवर्तन की बात को स्वीकार किया और इस पर अपनी सहमति व्यक्त की, पर साथी के चुनाव की प्रक्रिया, वैवाहिक पद्धति एवं रीतियों में तथा अन्तर्विवाह में आ रहे परिवर्तनों को नकारा है।

वैवाहिक क्रम में पर्दा प्रथा सहरिया समाज की अनिवार्य विशेषता रही है। परिवर्तन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आज भी सहरिया समाज घूँघट सम्बन्धी कठोर प्रतिबन्ध में परिवर्तन नहीं कर सके हैं। सहरिया जनजाति के वयस्क, प्रौढ़ और वृद्ध पर्दाप्रथा का पूर्ण समर्थन करते हैं।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ

सामाजिक संगठन का एक मुख्य आधार धर्म है। धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास के रूप मे जाना जाता है। सहरिया जनजाति एक ऐसी जनजाति है जो ईश्वर पर विश्वास के साथ-साथ निर्जीव वस्तुओं में भी अलौकिक शक्ति के निवास करने के तथ्य को स्वीकारती है। हिन्दू समाज में प्रचलित मान्यताओं के अनुरूप सहरिया लोग आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म में

आस्था रखते हैं। हिन्दू देवी के अतिरिक्त उन्हें प्राकृतिक आत्माओं, वृक्षों आदि में अलौकिक शक्ति के निवास के साथ-साथ मृतात्माओं पर भी विश्वास है। मृतात्माओं को ये कुल देवता मानते हैं और अपने घर में ही घरौंदा बना कर इन्हें प्रसन्न करने के लिये बलि देते हैं। सहरिया जनजाति के लोगों द्वारा समय-समय पर आने वाली बीमारियों, कष्टों और विपत्तियों से मुक्ति के लिये बलि दे कर अदृश्य शक्ति को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती है। इनमें नीम, पीपल और अन्य वृक्षों की पूजा की जाती है। अज्ञानता एवं अतार्किक विचारों के कारण पुरातन परम्परा के अनुसार जीवन व्यतीत कर रहे हैं। एस.सी. दुबे (1961) ने कमार जनजातियों के अध्ययन में पाया कि कमार जनजाति के लोग मृत व्यक्ति का शरीर श्मशान में मढिया बना कर रहने लगता है, उसी प्रकार सहरिया जनजातियों में मृतात्माओं के प्रति अगाध विश्वास है। उनकी पूजा-अर्चना समय-समय पर की जाती है।

भारत मूलत: विभिन्नता वाला देश है जिसमें सांस्कृतिक भिन्नता मुख्य है। प्रत्येक समुदाय का अपना-अपना सार्वजनिक उत्सव होता है जिसमें कुछ उत्सव सामान्य होते हैं और कुछ राष्ट्रीय। इन उत्सवों को मनाये जाने के प्रति उत्तरदाताओं की मनोवृत्ति जानी गयी। उनसे यह पूछा गया कि आप अपने समुदाय में सार्वजनिक तीज-त्यौहार, उत्सवों, मेलों और राष्ट्रीय पर्वों में भागीदारी करते हैं। प्राप्त उत्तरों को निम्न सारणी में रख रहे हैं -

सारणी 8
सांस्कृतिक उत्सवों मे भागीदारी

कथन	हाँ (प्रतिशत)	नहीं (प्रतिशत)	योग
सार्वजनिक उत्सवो में भागीदारी होती है	197 (97.5)	05 (2.5)	202
राष्ट्रीय पर्वो में भागीदारी होती है	21 (9.3)	02 (8.7)	23
योग	218 (96.0)	07 (3.1)	225

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी से प्राप्त तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि सर्वाधिक उत्तरदाता सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय उत्सवों को बड़े उत्साह से मनाते हैं। उत्तरदाताओं के अनुसार किसी भी प्रकार की कठिनाई परिवार में क्यों न हो, पर हम सार्वजनिक उत्सव घूमधाम से मनाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इनके समाज में हर प्रकार के त्यौहार - दशहरा, दीपावली, गणेश उत्सव, नवरात्र और सभी राष्ट्रीय पर्व मनाये जाते हैं। ये स्थानीय देवी-देवताओं पर अधिक विश्वास करते हैं। इन देवताओं मे तेजाजी महाराज, हरीमन देव, भैरो देव, नरसिंह देव मुख्य हैं। इनकी सर्वाधिक लोकप्रिय देवी माता कालका हैं जिनकी पूजा-अर्चना जनजातीय पर्वों और उत्सवों पर विशेष रूप से की जाती है।

उत्तरदाताओं से उनकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों तथा सार्वजनिक उत्सवों में भागीदारी के प्रति मनोवृत्ति जानने के बाद उन विश्वासों में आ रहे परिवर्तनों को विश्लेषित करना आवश्यक समझा गया क्योंकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था को पाश्चात्य सभ्यता ने प्रभावित किया है जिस कारण भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों मे परिवर्तन आ रहा है। इस

सन्दर्भ में उत्तरदाताओं से धार्मिक विश्वासों और सार्वजनिक उत्सवों में आ रहे परिवर्तनों पर उत्तरदाताओं की राय जानी गयी। प्राप्त उत्तरों को निम्न सारणी में रख रहे हैं -

सारणी 9
विश्वासों में आ रहे परिवर्तन पर दृष्टिकोण

प्रत्युत्तर	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
बहुत अधिक परिवर्तन हुआ	139	61.8
थोड़ा परिवर्तन हुआ	21	9.3
कोई परिवर्तन नहीं हुआ	36	16.0
केवल सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ	29	12.9
योग	225	100

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी में प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हमारे सर्वाधिक उत्तरदाता परिवर्तन को एक सार्वभौमिक घटना मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि धार्मिक उत्सवों के मनाये जाने और उन पर किये जाने वाले विश्वासों मे परिर्वन आ रहा है किन्तु 16 प्रतिशत उत्तरदाता किसी प्रकार के परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते हैं। एक ओर जहाँ 9.3 प्रतिशत उत्तरदाता थोड़े-बहुत परिवर्तन की बात को स्वीकार करते हैं वहीं 12.9 प्रतिशत उत्तरदाता केवल सांस्कृतिक परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। प्राप्त तथ्य यह दर्शाते हैं कि सर्वाधिक सहरिया महिलाएँ इस बात को स्वीकार करती हैं कि उनके समाज में परिवर्तन आ रहा है जो व्यवस्था का एक पक्ष है, पर कुछ उत्तरदाता सांस्कृतिक परिवर्तन को स्वीकार करती हैं।

जिन उत्तरदताओं ने सामुदायिक उत्सवों, धार्मिक विश्वासों एवं तत्सम्बन्धी मान्यताओं में आ रहे परिवर्तनों को स्वीकार किया और यह माना कि परिवर्तन हो रहा है तो उनसे इस सम्बन्ध में विस्तार से बताने को कहा गया। उनके समक्ष धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्षों से सम्बन्धित कुछ पक्ष रखे गये और उनमें आ रहे परिवर्तनों पर उनकी प्रतिक्रिया जानी गयी। प्राप्त प्रतिक्रियाओं को हम निम्न सारणी में रख रहे हैं -

सारणी 10
परिवर्तन से सम्बन्धित पक्ष

परिवर्तन के पक्ष	सहमत	असहमत	योग
त्यौहारों के परम्परागत तरीकों में परिवर्तन	18.0	82.0	100
जातीय देवी-देवता की मान्यता में परिवर्तन	7.5	92.5	100
भूत-प्रेत और जादू-टोना के विश्वास में परिवर्तन	12.5	87.5	100
परम्परागत सामाजिक मान्यताओं एवं रीति-रिवाज में परिवर्तन	34.0	86.0	100
परम्परागत संस्कृति एवं संस्कारों में परिवर्तन	43.5	56.5	100
रहन-सहन में परिवर्तन	16.0	84.0	100
जातिगत पंचायत के महत्व में परिवर्तन	35.5	64.5	100
सामाजिक दण्ड मे परिवर्तन	18	82	100
गुदना सम्बन्धी मान्यता में परिवर्तन	14	86	100

स्रोत : प्राथमिक तथ्य

उक्त सारणी में धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आ रहे परिवर्तनों के कुछ विशेष पक्षों को रखा गया और उत्तरदाताओं से उनकी प्रतिक्रिया प्राप्त की गयी। प्राप्त प्रतिक्रियाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सहरिया सामाज की अधिकांश महिलाएँ धार्मिक विश्वास और मान्यताओं को उसी रूप में मानती हैं जैसी उनकी परम्परा में है। लेकिन 18 प्रतिशत उत्तरदाता यह मानती हैं कि उनके तीज-त्यौहारों के परम्परागत तरीकों में परिर्वन आ रहा है। केवल 7.5 प्रतिशत उत्तरदाओं ने जातिगत देवी-देवताओं की मान्यता में परिवर्तन को स्वीकार किया है। 87.5 प्रतिशत उत्तरदाता भूत-प्रेत और जादू-टोना में वैसा ही विश्वास रखती हैं जैसा पहले के लोग रखते थे। केवल 34 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने सामाजिक मान्यताओं और रीति-रिवाज में परिवर्तन को स्वीकारा है। ये लोग सामाजिक मान्यताओं को उतना महत्वपूर्ण नहीं मानते यद्यपि अधिकांश सहरिया परिवार सामाजिक मान्यताओं और रीति-रिवाज को तोड़ने से डरते हैं। एक ओर जहाँ परम्परागत संस्कृति एवं रीति-रिवाज को मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या अधिक है, वहीं परम्परागत पंचायतों की महत्ता और सामाजिक दण्ड को अपरिहार्य मानने वाले लोगो की संख्या कम नहीं है। इन उत्तरदाताओं ने बताया कि हमारी परम्परागत संस्कृति मूल संस्कृति है और उसमें हम परिवर्तन के हिमायती नहीं हैं जबकि 43.5 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह स्वीकार किया कि परम्परागत संस्कृति, मान्यताओं और रीति-रिवाजों में परिवर्तन आ रहा है और इन परिवर्तनों को हमें स्वीकारना चाहिये। जातिगत पंचायत के निर्णय को न मानने, परम्परात मान्यताओं को तोड़ने, या संस्कृति एवं रीति-रिवाज का उल्लंघन करने पर सामाजिक दण्ड का पूर्ण ध्यान रखा गया है, इसमें भी सहरिया समाज परिवर्तन का हिमायती नहीं है। इन उत्तरदाताओं का कहना है कि यदि दण्ड व्यवस्था में परिवर्तन किया जायेगा तो समाज के सदस्य निरंकुश हो जायेंगे। सहरिया समाज की महिलाओं को गुदना बहुत अधिक प्रिय है। गुदना को ये स्वर्णिम अलंकार मानती हैं। गुदना गुदवाना सहरिया स्त्री का परमधर्म है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि जनजातीय महिलाओं के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन ने उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया है और उनमें सशक्तीकरण को बढाया है। हमने अपने अध्ययन में देखा कि परिवर्तन के बहुत अधिक मुद्दे समाज में क्रियाशील हैं। सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है जो व्यक्तिगत स्तर, संस्थात्मक स्तर, सामुदायिक एवं वैश्विक स्तर पर विद्यमान है। सामाजिक व्यवस्था और समाज की मनोवृत्ति में परिवर्तन का भारतीय संविधान ने भी समर्थन किया है, लेकिन परिवर्तन से सम्बन्धित वास्तविकता सामाजिक व्यवस्था से भिन्न है।

सन्दर्भ

देसाई, एल.पी. (1955) *द ज्वाइण्ट फैमिली इन इण्डिया,* सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, खण्ड 4.

दुबे, एस.सी. (1961) *द कमार,* लखनऊ. युनिवर्सल पब्लिशर्स.

द्विवेदी, जी.पी. (2003) 'कोल जनजाति का सामाजिक परिवेश', *समाज वैज्ञानिकी,* अंक 5.

कपाड़िया, के.एम. (1959) 'द फैमिली इन ट्रान्जिशन', *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन,* खण्ड 8 अंक 2.

मैकाइवर और पेज (1953) *सोसायटी,* मैकमिलन, लन्दन.

नायक, आर.डी. (1979) *सम स्ट्रक्चरल आस्पेक्ट ऑफ अर्बन फैमिली,* मुम्बई.

रास, ए.डी. (1961) *द हिन्दू ज्वाइन्ट फैमिली इन इट्स अर्बन सेटिंग,* ऑक्सफोर्ड प्रेस, मुम्बई.

शर्मा, जे. (1964) 'न्यूक्लिआइजेशन ऑफ ज्वाइन्ट फैमिली हाउसहोल्ड इन बंगाल', *मेन इन इन्डिया,* खण्ड 44.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 68-74)

भारत में वस्तुओं का वायदा बाजार में व्यवसाय : एक अध्ययन

दिलीप कुमार एगोरे* एवं पी.के. सनसे†

विश्व में किसी भी प्रकार की वस्तुओं का लेन-देन बाजारों के माध्यम से ही सम्भव है, भारत विश्व में एक ऐसा देश है जिसके विभिन्न राज्यों में कृषि वस्तुओं का उत्पादन एवं व्यापार विख्यात है अत: यहाँ पर कृषि वस्तुओं का उत्पादन, व्यवसाय एवं उद्योग का विशेष योगदान है। कृषि वस्तु व्यापार के क्षेत्र में वायदा बाजार भी अपनी भूमिका निभा रहा है जिसमें कृषि एवं गैर-कृषि वस्तुओं की 113 प्रकार से अधिक वस्तुओं के वायदा सौदों का विभिन्न एक्सचेंजों से व्यापार किया जा रहा है। वर्तमान समय में वायदा व्यापार देश के विभिन्न एक्सचेंजो के द्वारा वस्तु व्यापार के लेन-देन को सम्भव बना रहा है। जिससे वायदा व्यापार में संलग्न व्यक्तियों जिनमें किसान, व्यापारी, बिचौलिए एवं विनियोगकर्ताओं में भी वृद्धि हो रही है, जो राष्ट्रीय स्तर पर विश्व में वायदा व्यापार को बढ़ा रहा है। इस शोध-पत्र के अध्ययन को पूर्ण करने के लिए शोधार्थी ने प्राथमिक एवं द्वितीय समंकों की सहायता ली है एवं शोध कार्य के निष्कर्ष को ज्ञात करने हेतु सांख्यिकीय तकनीकी का उपयोग किया है। प्रस्तुत शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य वायदा बाजार के माध्यम से व्यापार में होने वाले सौदों के बारे में विश्लेषण करना है।

*सहायक प्राध्यापक, आय.पी.एस. अकादमी, इन्दौर (म.प्र.), **E-mail: dilip.agore@gmail.com**
†प्रध्यापाक, बी.एल.पी. शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महू (म.प्र.), **E-mail: pksanse@gmail.com**

प्रस्तावना

विश्व में वायदा बाजार कृषि एवं गैर-कृषि वस्तुओं का व्यापार करने का एक ऐसा स्थान है, जहाँ प्रत्येक बाजार शहरी एवं ग्रामीण स्थानों के व्यापार से दुनिया को जोड़ता है। भारत में विश्वस्तरीय कमोडिटी व्यापार करने के लिए मुख्य रूप से तीन राष्ट्रीय एक्सचेंज तथा 16 क्षेत्रीय एक्सचेंज हैं यहाँ से पंजीकृत 113 कमोडिटीज् में मुख्य रूप से कृषि वस्तुओं में सरसों बीज/रेपसीड आईल और खली, सोयाबीन बीज, तेल और सोया उत्पाद, आरबीडी पॉमोलिन, क्रूड पॉमोलिन, क्रूड पॉम आईल, सीपीओ रिफाईंड इत्यादि एवं गैर-कृषि वस्तुओं सोना, चाँदी, प्लेटिनम, कॉपर, एल्युमीनियम, जिंक इत्यादि वस्तुओं के व्यवसाय को संचालित एवं नियन्त्रित किया जाता है। वायदा बाजार में कमोडिटी के अग्रिम अथवा भविष्य के सौदे किए जाते हैं, बाजार में आने वाले माह में कमोडिटी या वस्तुओं के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगाकर सौदों को पहले ही पूरा कर लिया जाता है, इन पूर्वानुमानों के आधार पर ही वस्तुओं के उत्पादक अपने उत्पादन से व्यापार का निर्धारण कर लेते हैं, जिससे वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति को निर्धारित कर सौदों का निपटान समय में किया जाता है। इस बाजार की स्थापना एवं इसके परिचालन के लिए वायदा अनुबन्ध अधिनियम 1952 धारा 3 के अन्तर्गत 1953 में वायदा बाजार अधिनियम का गठन किया गया और वायदा बाजार आयोग के द्वारा इस व्यापार के संचालन हेतु समय-समय पर संशोधन एवं सुधारात्मक कार्य भी किए गए। वर्ष 2015 से वायदा बाजार का संचालन एवं नियमन भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड (सेबी) के द्वारा किया जा रहा है।

भारत में कमोडिटी व्यापार नियामक की प्रक्रिया

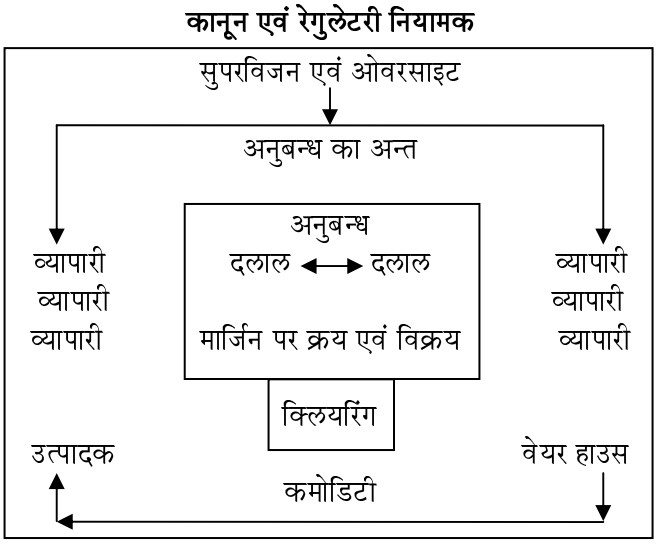

भारत में भविष्य कमोडिटी व्यापार संचालन की प्रक्रिया

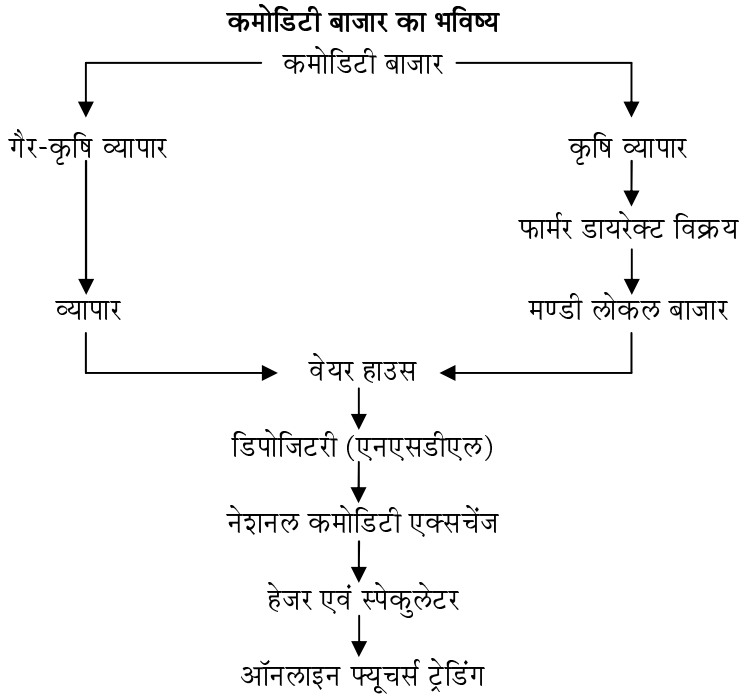

भारत में कमोडिटी व्यापार का इकोसिस्टम

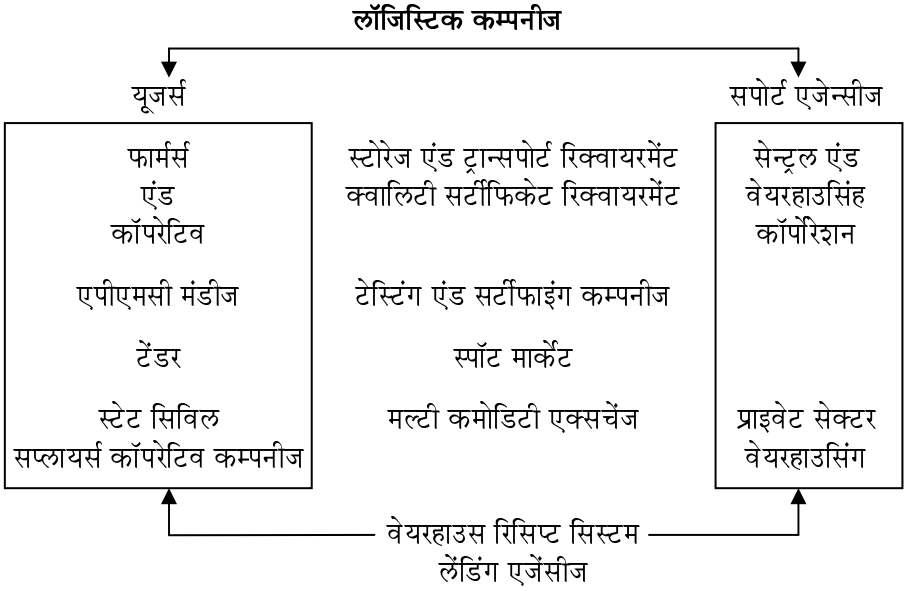

वायदा बाजार के प्रमुख भागीदार

उत्पादक, कृषक, व्यापारी, विनियोगकर्ता, आयातक, निर्यातक, खाद्यान्न व्यावसायिक कम्पनियाँ, हेजर्स (वस्तुओं के अनुमान करने वाले व्यक्ति), स्पेक्यूलेटर्स (नफा-नुकसान का अन्दाजा लगाने वाले), आर्बिट्रेटर (जो व्यापारियों के मतभेद एवं मनमुटाव के फैसलों का निपटारा करते हैं) इत्यादि।

शोध अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र के निम्न उद्देश्य निर्धारित किए गये हैं - भारत में वायदा बाजार का उपयोग किस प्रकार किया जाता है? भारत में वायदा बाजार की जागरूकता का अध्ययन करना। वायदा बाजार की स्थिति का अध्ययन करना।

शोध अध्ययन की प्रविधि

शोध-पत्र के निर्माण के लिए मुख्य रूप से उपयोग में आने वाली सूचनाएँ एवं समंकों का संग्रहण सांख्यिकीय तकनीकों का प्रयोग कर किया जाता है जिसमें सूचनाओं को प्राथमिक और द्वितीयक समंकों से प्राप्त किया जाता है। प्रस्तुत शोध-पत्र के अध्ययन हेतु 100 व्यक्तियों के माध्यम से प्राथमिक समंकों का संग्रहण प्रश्नावली जिनमें किसान, व्यापारी, विनियोगकर्ता एवं ब्रोकर्स इत्यादि उत्तरदाताओं की सहायता से किया गया है एवं निष्कर्ष प्राप्त करने हेतु सांख्यिकीय तकनीकी और चार्ट का उपयोग किया गया है। प्रस्तुत समंकों को प्राप्त करने हेतु मध्यप्रदेश के इन्दौर जिले में एन.बी.ओ.टी. लिमिटेड, इन्दौर क्षेत्रीय एक्सचेंज से सम्बन्धित व्यक्तियों का चयन किया गया है।

शोध अध्ययन में प्राप्त समंकों का विश्लेषण एवं निर्वचन

वायदा बाजार के बारे में जानकारी है?

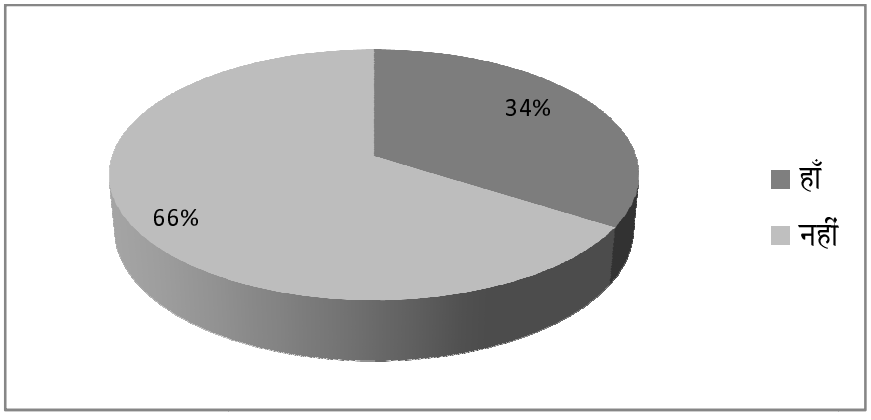

उपर्युक्त सूचनाओं के विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि वायदा बाजार में वस्तुओं के व्यापार के बारे में 34 प्रतिशत व्यक्तियों को इसकी जानकारी है तथा 66 प्रतिशत व्यक्तियों को अभी तक इस प्रकार के व्यापार की जानकारी नही है तथा जिन व्यक्तियों को इस वायदा व्यापार के बारे में जानकारी नही है उन व्यक्यिों को वायदा बाजार के प्रति जागरूक करने की आवश्यकता है।

वायदा बाजार में विनियोग अथवा व्यापार से आय

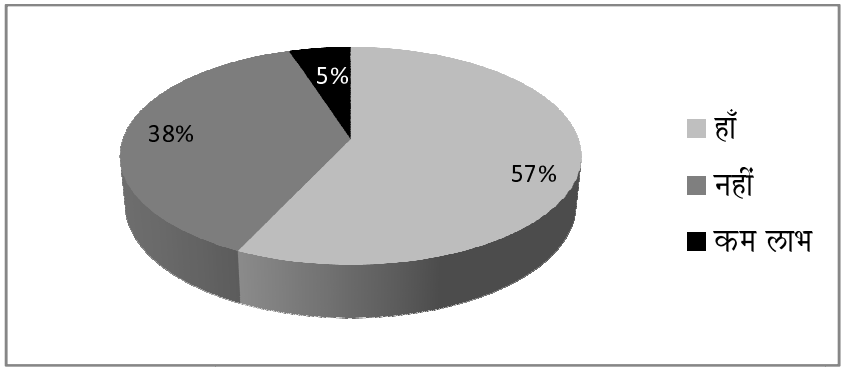

उपर्युक्त सूचनाओं के विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि वायदा बाजार में 57 प्रतिशत व्यक्तियों के द्वारा वायदा बाजार में विनियोग अथवा व्यापार किया गया है और लाभ प्राप्त किया तथा 38 प्रतिशत व्यक्तियों को अभी तक इसकी जानकारी नही होने से वायदा बाजार में विनियोग अथवा व्यापार नहीं किया गया है साथ ही 5 प्रतिशत व्यक्तियों को वायदा बाजार में विनियोग अथवा व्यापार करने पर कम लाभ प्राप्त हुआ जिससे वह अन्य विनियोगों एवं व्यापारों में संलग्न हैं। अत: व्यक्तियों को इसके बारे में जानकारी देने एवं विनियोग अथवा व्यापार को बढ़ाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

वायदा बाजार में विनियोग अथवा व्यापार से सन्तुष्टि

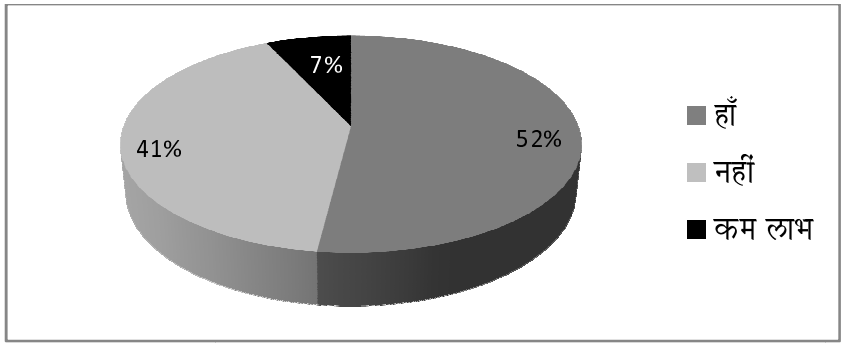

उपर्युक्त सूचनाओं के विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि वायदा बाजार में 52 प्रतिशत व्यक्तियों के द्वारा वायदा बाजार में विनियोग अथवा व्यापार किया गया और उन्होंने सन्तुष्टि प्राप्त की तथा 41 प्रतिशत व्यक्तियों को अभी तक इसकी सम्पूर्ण जानकारी न होने के कारण वह असन्तुष्ट हैं साथ ही 7 प्रतिशत व्यक्तियों को वायदा बाजार में विनियोग अथवा व्यापार करने से कम लाभ हुआ जिसके कारण वह आंशिक रूप से सन्तुष्ट हैं।

शोध अध्ययन की समस्याएँ एवं सुझाव

प्रस्तुत शोध प्रत्र के अध्ययन में समंको का संग्रहण करते समय प्रश्नावली को पूर्ण करने से यह जानकारी प्राप्त हुई कि वायदा बाजार अवैधानिक रूप से कार्य कर रहा है जो एक वैधानिक संस्था के रूप में स्थापित है। वायदा बाजार का संचालन एवं नियमन इन्टरनेट के द्वारा होने से भी व्यक्तियों को इसका उपयोग करना सम्भव नहीं हो पा रहा है जिसका एक कारण यह भी है कि इस व्यवसाय में शिक्षित और अशिक्षित व्यक्तियों के होने तथा व्यापार की सम्पूर्ण जानकारी नहीं होने के कारण इनको मध्यस्थों की न चाहकर भी सहायता लेनी होती है। अधिकतम मध्यस्थ (दलाल) अपना लाभ प्राप्त करने के लिए इन किसानों, व्यापारियों और विनियोगकर्ताओं को भ्रमित करते हैं जिसके कारण इनको व्यापार संचालन में अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उपर्युक्त समस्याओं से बचने के लिए यह सुझाव दिया गया है कि वायदा बाजार में व्यापार करने के लिए व्यक्तियों को जागरूक करना और इस व्यापार का संचालन के लिए इसकी प्रक्रिया से अवगत कराना और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, समाचार-पत्रों, कार्यशालाओं, संगोष्ठियों के माध्यम से जानकारी देने का प्रयास किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वायदा बाजार में व्यवसाय के वर्तमान में सम्मिलित विभिन्न व्यक्तियों, जैसे - किसान, व्यापारी, दलाल एवं विनियोगकर्ताओं का रुझान वायदा बाजार में व्यापार के प्रति दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

वायदा व्यापार का उपयोग मध्यस्थों द्वारा अत्यधिक और शिक्षित-अशिक्षित वर्ग के व्यक्तियों द्वारा कम किया जा रहा है। इसका कारण है कि ऑनलाइन और इन्टरनेट से इसको परिचालित करना सभी के लिए सम्भव कार्य नहीं है।

व्यक्तियों को इस कमोडिटी वायदा बाजार में व्यापार करने के लिए मध्यस्थों/दलालों/ब्रोकर्स की सहायता की आवश्यकता होती है और इसके साथ ही कमोडिटी/वस्तुओं के संग्रहण के लिए स्थान-स्टोर्स या वेयरहाउस के रूप में, वस्तुओं की आपूर्ति के लिए परिवहन और भाड़ा इत्यादि पर भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ने पर अनुबन्धों/सौदों की लागत कुछ मात्रा में बढ़ जाती है जिसके कारण लाभ में कमी होती है।

सन्दर्भ

1. http://www.sebi.in
2. http://www.fmc.gov.in
3. http://www.nbot@nbotind.org
4. http://www.nmce.com
5. http://www.ncdex.com
6. http://www.mcxindia.com

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 75-81)

महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग की भूमिका का अध्ययन

मिलिन्द्र त्रिपाठी*

व्यक्तित्व विकास जीवन का एक महत्वपूर्ण आयाम है। व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों में शारीरिक, भावनात्मक, बौद्धिक जैसे कई पहलू होते हैं। व्यवहार के सामाजिक और आध्यात्मिक पहलू भी इसमें सम्मिलित होते हैं। इन सभी के निर्माण में योग की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इस दृष्टि से महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग की भूमिका को इस आलेख में विश्लेषित किया गया है।

प्रस्तावना

योग द्वारा महिलाओं का सर्वांगीण विकास सम्भव है। योग शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं भावनात्मक रूप से मजबूती प्रदान करता है। व्यक्तित्व विकास में योग की महत्वपूर्ण भूमिका है। योग द्वारा तेजी से व्यक्तित्व विकास सम्भव है। महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग में ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास निहित है। यदि मनुष्य अष्टांग योग को जीवन में आत्मसात कर ले तो उसका व्यक्तित्व दिव्यता को प्राप्त कर लेगा। इन्हें अनुसरण करने से जीवन मूल्यों का विकास होगा। आज के दौर में महिलाओं की भूमिकाओं में तेजी से बदलाव

* शोधार्थी, रबीन्द्रनाथ टेगौर विश्वविद्यालय, भोपाल, E-mail: mr.milindra@gmail.com

आया है। आज महिलाएँ हर क्षेत्र में सर्वोच्च शिखर को प्राप्त कर रही हैं। आज के दौर में महिलाएँ घर-परिवार की जिम्मेदारियों के साथ-साथ व्यापार एवं नौकरी की जिम्मेदारियों का बखूबी निर्वहन कर रही हैं। जिम्मेदारियों का बखूबी निर्वहन सतत चलता रहे, इस हेतु आवश्यक है कि शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक रूप से पूर्ण स्वस्थ रहा जाए। इस पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करने में योग से अच्छा कोई विकल्प नहीं हो सकता है। महिलाओं में उम्र के प्रत्येक पड़ाव पर अनेक शारीरिक बदलाव होते हैं, जिस कारण वे मानसिक रूप से असहज महसूस करती हैं। फलस्वरूप उनके जीवन में असन्तुलन आ जाता है। योग के माध्यम से वो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकती हैं। व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती है। व्यक्तित्व का अर्थ है व्यक्ति का व्यवहार। व्यक्ति के बाह्य गुणों एवं अन्तर गुणों का प्रकटीकरण ही व्यक्तित्व कहलाता है। विभिन्न परिस्थितियों में प्रत्येक मनुष्य जो अलग-अलग प्रतिक्रिया व्यक्त करता है इन्हीं प्रतिक्रियाओं को समग्र रूप से हम व्यक्तित्व कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों के व्यक्तित्व विकास को लेकर दो मत हैं - एक विचारधारा का मत है कि व्यक्तित्व का विकास अनुवांशिकता के कारण है और दूसरी विचारधारा कहती है कि इसका आधार व्यक्ति का वातावरण है। भावनाओं और संवेदनाओं के बिना व्यक्तित्व अपूर्ण माना जाएगा। महिलाएँ अधिक भावनात्मक एवं संवेदनशील होती हैं। योग को अपनाकर महिलाएँ भावनात्मक रूप से स्वयं को मजबूत कर सकती हैं। यदि सही तरीके से योग को अपनाया जाए तो समुचित विकास सम्भव है। योग द्वारा मन शान्त एवं स्थिर रहता है। योग से मानसिक आशान्ति को आसानी से दूर किया जा सकता है। योग सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है। योग से मन नियन्त्रित रहता है। मन में उठने वाले विचारों पर नियन्त्रण आ जाने से व्यक्तित्व विकास में मदद मिलती है। साथ ही महिलाएँ घर की जिम्मेदारियों के साथ योग में अपना कैरियर भी बना रही हैं। अनेक महिलाएँ घरो से ही सफलतापूर्वक योग कक्षाओं का संचालन कर परिवार को आर्थिक रूप से भी मजबूती प्रदान कर रही हैं।

शोध समस्या का औचित्य

उक्त शोध के प्रमुख प्रश्नों सेयह जानने का प्रयास करना कि क्या योग से महिलाओं का व्यक्तित्व विकास सम्भव है? शोध के वैज्ञानिक आधारों पर यह जाँच करना कि क्या योग से व्यक्तित्व विकास सम्भव है? पूरी दुनिया 21 जून को विश्व योग दिवस मनाती है। कोरोना काल में योग से होने वाले लाभ का प्रत्यक्ष परिणाम दुनिया ने देखा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य की परिभाषा देते हुए कहा था कि जो व्यक्ति शारीरिक रूप से, मानसिक रूप से, सामाजिक रूप से, आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ है वही पूर्ण स्वस्थ्य है। एक सफल व्यक्तित्व के लिए पूर्ण स्वस्थ होना अति आवश्यक है। वर्तमान काल में मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों के जाल में फँसता जा रहा है। पूरी दुनिया इस समय योग की ओर आशा भरी नजरों से देख रही है। अनेक योग केन्द्र स्थापित हो चुके हैं, जिनमें नागरिक अपनी समस्याओं के उपचार हेतु जा रहे हैं। सच में नागरिकों को लाभ प्राप्त हो रहा है या नहीं, इन्हीं

विचारों से शोधार्थी के मन में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों ने जन्म लिया - क्या योग महिलाओं के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालता है? क्या योग से मानसिक बीमारियों में राहत मिलती है? क्या योग से नकारात्मक विचारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है? क्या योग महिलाओं को निर्भीक एवं आत्मविश्वास का संचार कर पा रहा है? क्या योग से महिलाएँ मानसिक रूप से सशक्त हो पा रही हैं? सामान्य महिलाओं एवं नियमित योग करने वाली महिलाओं के व्यक्तित्व में होने वाला परिवर्तन? इन सभी प्रश्नों के हल प्राप्त करने हेतु शोधार्थी ने इस विषय का चयन किया है।

उद्देश्य

शोध अध्ययन के लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं -

महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग की भूमिका का अध्ययन; महिलाओं के सर्वांगीण विकास में योग की भूमिका; महिलाओं की सामाजिकता पर योग के प्रभाव का अध्ययन; महिलाओं की निर्णय क्षमता पर योग के प्रभावों का अध्ययन; महिलाओं के संवेग प्रदर्शन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन; एवं महिलाओं के सामंजस्य पर योग के प्रभावों का अध्ययन।

परिकल्पना

निम्नलिखित परिकल्पनाओं को देखने का प्रयास किया गया -

महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता; महिलाओं की सामाजिकता पर योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता; महिलाओं के संवेग प्रदर्शन पर योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता; महिलाओं की निर्णय क्षमता पर योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता; एवं महिलाओं के सामंजस्य पर योग का प्रभाव नहीं पड़ता।

शोध प्रविधि

शोध अध्ययन हेतु सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है। शोधार्थी द्वारा प्रस्तुत शोध अध्ययन में यादृच्छिक न्यादर्श हेतु उज्जैन योग इंस्टीट्यूट का चयन किया गया है। योग साधकों को न्यादर्श के रूप में यादृच्छिक न्यादर्श विधि द्वारा चयनित किया गया है।

शोधार्थी द्वारा प्रदत्तों के संकलन हेतु उज्जैन योग इंस्टीट्यूट के योग साधकों का चयन किया गया है। स्व निर्मित प्रश्नावली का शोध उपकरण के रूप में प्रयोग किया गया है। निर्धारित आयामों के अनुरूप कुल 47 प्रश्न 47 अंकों की परीक्षण प्रश्नावली है।

उज्जैन योग इंस्टीट्यूट के सेंटर पर नियमित योग करने वाली महिलाएँ एवं ग्रामीण क्षेत्र की वे महिलाएँ जो योग नहीं करती हैं। इन्हें प्राथमिक स्रोत के रूप में चयनित किया गया। शोध में प्रदत्तों की प्रकृति गुणात्मक एवं मात्रात्मक है।

शोध में उज्जैन योग इंस्टीट्यूट की 60 महिलाओं को एवं ग्रामीण क्षेत्र की 60 महिलाओं को अर्थात् कुल 120 महिलाओं को जनसंख्या के रूप में सम्मिलित किया गया है।

प्रस्तुत शोध कार्य में 18 से 45 वर्ष आयु की महिलाओं का चयन किया गया है।

सर्वेक्षण से प्राप्त निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन में शोधार्थी ने प्राप्त प्रतिशत के आधार पर सांख्यिकी द्वारा परिणामों का गहन विवेचन और विश्लेषण किया, जिसके उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए -

परिकल्पना - 1 : महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता

योग का महिलाओं के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि योग का महिलाओं के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है। योग का महिलाओं के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रतिशत 92.38 है। अत: उक्त परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है। योग का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है।

परिकल्पना - 2 : महिलाओं की सामाजिकता पर योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता

शोध अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि योग का महिलाओं की सामाजिकता पर गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि योग करने जाने वाली महिलाएँ योग सेंटर में अनेक लोगों के सम्पर्क में आती हैं। साथ ही योग जागरूकता हेतु अनेक कार्यक्रमों में महिलाएँ सहभागिता करती हैं। योग शिविरों के माध्यम से भी महिलाएँ अनेक जनसमूहों के जीवन्त सम्पर्क में बनी रहती हैं। योग करने वाली महिलाओं की सामाजिकता का प्रतिशत 89.58 है, जबकि योग नहीं करने वाली महिलाओं की सामाजिकता का प्रतिशत 78.12 है। अत: उक्त परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है। योग करने से महिलाओं की सामाजिकता पर प्रभाव पड़ता है।

परिकल्पना - 3 : महिलाओं के संवेग प्रदर्शन पर योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता

महिलाओं के संवेग प्रदर्शन पर योग के सार्थक प्रभाव का अध्ययन करने पर पाया गया कि योग करने से महिलाओं का मस्तिष्क शान्त एवं स्थिर रहता है। मस्तिष्क शान्त रहने से संवेगों पर नियन्त्रण सरलता से किया जा सकता है। नियमित योग करने वाली महिलाओं में सकारात्मकता का स्तर भी उच्च पाया गया है। नियमित योग करने वाली महिलाओं के संवेगों का प्रदर्शन का प्रतिशत 90.00 है, जबकि योग नहीं करने वाली महिलाओं के संवेगों का प्रतिशत 80.00 है। अत: उक्त परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

परिकल्पना - 4 : महिलाओं की निर्णय क्षमता पर योग का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता

योग से महिलाओं की निर्णय क्षमता पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि योग करने से मस्तिष्क शान्त रहता है, जिसके कारण सकारात्मक क्षमता में बढ़ोतरी होती

है। मस्तिष्क आलस्यरहित होकर पूरी तरह सक्रिय रहता है। शरीर भी ऊर्जा से परिपूर्ण होता है। योगियों में सदैव उत्साह एवं सकारात्मकता का संचार बना रहता है। उनका रक्त संचार भी नियन्त्रित रहता है, जिससे योग साधक अधिकांशत: सही निर्णय ले पाते हैं। योग करने वाली महिलाओं की निर्णय क्षमता पर पड़ने वाले सार्थक प्रभाव का प्रतिशत 87.77 है। अत: उक्त परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है। योग का महिलाओं की निर्णय क्षमता पर सार्थक प्रभाव पड़ता है।

परिकल्पना - 5 : महिलाओं के सामंजस्य पर योग का प्रभाव नहीं पड़ता

योग का महिलाओं के सामंजस्य पर पड़ने वाले सार्थक प्रभाव का विस्तृत अध्ययन किया गया। अध्ययन द्वारा ज्ञात हुआ कि योग करने से महिलाओं का मस्तिष्क शान्त रहता है। चूँकि योग करने वाले प्रकृति के अत्यन्त निकट होते हैं और वे नियमित ईश्वर का ध्यान करते हैं अत: उनमें भोगवादी प्रकृति समाप्त होकर सामाजिक कल्याण की प्रवृत्ति जाग्रत होने लगती है। सरलता एवं मैत्रीपूर्ण स्वभाव के कारण योग करने वाले स्वयं को सभी के साथ समायोजित कर लेते हैं। योग का महिलाओं के सामंजस्य पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रतिशत 91.66 है। अत: उक्त परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है। योग का महिलाओं के सामंजस्य पर प्रभाव पड़ता है।

शैक्षणिक निहितार्थ

आज पूरी दुनिया योग को सकारात्मक भाव के साथ आत्मसात् कर रही है। भारत के अनेक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में योगशिक्षा अनिवार्य कर दी गयी है। योग का व्यापक लाभ दुनिया कोरोना काल में देख चुकी है। प्रस्तुत शोध में महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग की भूमिका का अध्ययन है। किसी भी देश की उन्नति तभी सम्भव है जब उस देश की महिलाओं को भी बराबरी का दर्जा धरातल पर प्राप्त हो। महिलाएँ यदि योग को अपनाती हैं तो उससे आने वाली पीढ़ियाँ स्वस्थ होंगी और हमारे देश में स्वास्थ्य पर होने वाले खर्चों में भी कटौती होगी। हमारे देश में महिलाएँ स्वयं के स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं देतीं हैं। वे परिवार के प्रति समपर्ण भाव में स्वयं को भूल जाती हैं। प्रस्तुत शोध से यह सिद्ध होता है कि योग से महिलाओं में सकारात्मक परिवर्तन होते हैं। यदि एक महिला योग को आत्मसात् करती है, तो उसका पूरा परिवार उसका अनुसरण करता है।

महिलाओं हेतु महत्वपूर्ण सुझाव

योग को योगगुरु की देख-रेख में ही करें। अनेक बार देखा गया है कि जब आसन किया जाता है तो स्वयं की गलतियों को देख नहीं पाते हैं। अनेक बीमारियों में अनेक योगासन मना होते हैं। जानकारी के अभाव में यदि हम ऐसे योगासन करते हैं तो उसका

दुष्प्रभाव ही होता है। योगगुरु के मार्गदर्शन में करने से इन सभी दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है।

अभिभावकों हेतु महत्वपूर्ण सुझाव

भारत सरकार ने योग को स्पोर्ट्स का दर्जा प्रदान कर दिया है। अब योग को नेशनल गेम्स एवं खेलो इण्डिया में भी शामिल कर लिया गया है। आगामी वर्षों में यह ओलम्पिक में भी शामिल किया जा सकता है, अत: अपने बच्चों को योग सेंटर भेजें। योग स्वास्थ्य लाभ के साथ देश के लिए मेडल अर्जित कर राष्ट्र का गौरव बढ़ाने में भी सहायक हो सकता है।

भावी शोध हेतु सुझाव

प्रस्तुत शोध के प्रत्येक बिन्दु पर व्यापक शोध किया जा सकता है। योग में नवीन शोध की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। दुनिया योग को अपना रही है। योग के प्रत्येक अंग के वैज्ञानिक अध्ययन का दायित्व भारतीयों पर है। वैज्ञानिक प्रामाणिकता होने से योगविद्या विश्व का कल्याण कर भारत को पुन: विश्वगुरु बनाने में सहायक सिद्ध होगी। महिलाओं के व्यक्तित्व विकास में योग की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। योग करने के लिए सिर्फ दरी एवं खुली हवा की आवश्यकता होती है। इसमें कोई व्यय नहीं होता अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति योग को अपना सकता है। देश में महिलाओं के स्वास्थ्य पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। महिलाओं के स्वस्थ होने से आने वाली पीढ़ियाँ मजबूत और स्वस्थ होंगी। प्रत्येक प्राथमिक-माध्यमिक विद्यालय में योग को अनिवार्य विषय के रूप में सम्मिलित किया जाना चाहिए। योग की प्रयोगिक परीक्षा के अंकों को अनिवार्य विषय की रूप में मान्यता देनी चाहिए। योग खिलाड़ियों को तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर सकता है। खेलों में शरीर का लचीलापन, स्थिरता, शक्ति और श्वास नियन्त्रण आवश्यक तत्व होते हैं। योग के माध्यम से इन तत्वों पर कार्य कर अनेक खेल प्रतिभाओं को भी तराश सकते हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि महिलाओं के सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास पर योग का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। शोध में पाया गया कि महिलाओं द्वारा योग करने से उनकी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक क्षमता पर गहरा एवं सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। महिलाओं की निर्णय क्षमता, संवेगों के प्रदर्शन, सामंजस्य आदि पर भी योग का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अत: कहा जा सकता है कि अधिक से अधिक महिलाओं को योग अपनाना चाहिए। यह उन्हें पूर्ण स्वास्थ्य तो प्रदान करेगा ही, साथ ही उनके व्यक्तित्व विकास में भी सहायक सिद्ध होगा।

सन्दर्भ

पतंजलि योग सूत्र

वशिष्ठ संहिता

श्रीराम शर्मा आचार्य - *योग दर्शन*

कुलदीप वर्मा एवं पूजा रानी - लघु शोध - *व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में अष्टांग योग मार्ग का योगदान,* IRJMSH ISSN 2277-9809 ISSN 2348-9359 (PRINT)

ओम प्रकाश तिवारी - *अष्टांग योग*

रामनाथ शर्मा - *भारतीय मनोविज्ञान*

सदाशिव निम्बालकर - *स्वास्थ्य के लिए योग*

www.wikipedia.org

www.who.int

www.yogainternational.com

www.yogapoint.com

www.yogajournal.com

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का समीक्षित अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 20, अंक 1, जून 2022, पृ. 82-86)

पुस्तक समीक्षा

आदर्श भारतीय समाज की संकल्पना

रामगोपाल सिंह

राइटर्स चॉइस, नई दिल्ली, 2019, रु. 699

शोभा सुद्रास*

प्रत्येक भारतीय का सदियों से यह सपना रहा है कि वह अपने अतीत के खोये हुए गौरव को पुन: प्राप्त कर सके। यह जानते हुए कि यह तभी पूरा हो सकता है जब हम अपने समाज की विसंगतियों को दूर कर उसे एक आदर्श समाज बनायें, जिसके लिए प्रयास भी किये गये। विशेष रूप से संविधान के लागू होने के साथ हमें इस दिशा में काफी सफलता भी मिली, फिर भी अभी लक्ष्य काफी दूर है। हमारा आदर्श समाज कैसा हो, उसकी रचना और रुपरेखा कैसी हो, उसे हकीकत में लाने के मार्ग में क्या कठिनाइयाँ और बाधाएँ आ सकती हैं, उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है, इन सब बातों की जानकारी इस पुस्तक से प्राप्त होती है। आदर्श भारतीय समाज की संकल्पना भारतीय समाज-सुधारकों ने समय-समय पर की। इनका लक्ष्य सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में व्याप्त कुरीतियों को दूर कर समाज का नवनिर्माण करना था। योद्धाओं ने भी पराधीनता के कारणों को दूर कर स्वतन्त्र समाज के निर्माण का प्रयास किया। स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान देश में जातीय, क्षेत्रीय, एवं भाषायी

*प्राचार्य, महारानी पुष्पमाला राजे पंवार शासकीय कन्या महाविद्यालय, देवास.
E-mail: shobha_sudras@yahoo.com

विभेदों से ऊपर उठकर हमारे बीच एकता विकसित हुई, वह आजादी के बाद अधिक मजबूत होती, पर ऐसा नहीं हुआ।

आजादी के बाद हमने समाज निर्माण के संवैधानिक लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक न्याय तो कुछ हद तक प्राप्त किये, किन्तु इन सबके बावजूद लोगों में एकता और बन्धुता का भाव बढ़ाने में बहुत हद तक विफल रहे (प्रस्तावना)। एकता के अभाव में प्रगति और विकास की अपेक्षा करना तो दूर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाना भी मुश्किल होता है। ऐसे में हमें अपनी व्यवस्था, विधान, नीतियों और कार्यक्रमों को कुछ इस प्रकार संयोजित किये जाने की आवश्यकता है जिससे हम न्याय, नैतिकता, नवोन्मेषिता तथा एकता और विकासपरक आदर्श समाज स्थापित करने में कामयाब हो सकें।

समाजशास्त्र विषय में समाज, सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था आदि का वर्णन मिलता है। भारतीय समाज की विभिन्न विशेषताओं, विविधताओं एवं समस्याओं की भी चर्चा होती है परन्तु एक आदर्श भारतीय समाज की चर्चा आम तौर पर नहीं होती। प्रस्तुत पुस्तक आदर्श भारतीय समाज की संकल्पना की चर्चा ही नहीं करती वरन् आदर्श समाज कैसे स्थापित हो सकता है उसके बारे में भी बताती है।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में लेखक ने बताया है कि आदर्श भारतीय समाज वैदिक काल में था, उसमें व्याप्त बुराइयों के विरोध स्वरूप कई विचारधाराएँ आईं। इनमें बुद्ध की विचारधारा को आदर्श समाज की स्थापना में महत्वपूर्ण माना जा सकता है। मध्य युग विविधताओं का था। इस समय भी समाज की कुरीतियों के लिए रविदास, कबीर, नानक आदि सन्त कवियों ने आवाज उठाई। आधुनिक युग में विवेकानन्द एवं अम्बेडकर ने आदर्श समाज की स्पष्ट परिभाषा दी। अम्बेडकर ने इसे संवैधानिक रूप भी दिया। विवेकानन्द के अनुसार वैदिक काल में भारत के उत्थान का मूल कारण धर्म था। कालान्तर में ब्राह्मण धर्म हावी हो गया। ऐसे में धर्म के ब्राह्मण धर्म रूपी विकृत स्वरूप का परिष्कार कर उसे उसके मूल स्वरूप में पुनर्प्रतिष्ठित किये जाने के लिए उनके आदर्श समाज की संकल्पना को साकार करने में चौथे तथा पाँचवे वर्ग को समाज की उन्नति और विकास के लिए उठाया जाए।

भारत में गाँधी ऐसे सर्वोदय समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सभी का उदय हो परन्तु उन्हें आशातीत सफलता नहीं मिली। इसका प्रमुख कारण उनकी स्वतन्त्रता संग्राम में संलग्नता थी। उन्होंने अस्पृश्यों तथा महिलाओं की समस्याओं को दूर करने की बात की और इसके लिए प्रयास भी किये, परन्तु स्वतन्त्रता के बाद अधिक समय तक जीवित नहीं रहे जिससे उनकी सर्वोदय समाज की संकल्पना को मूर्त रूप नहीं मिल पाया।

व्यक्ति, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रजातन्त्र तथा धम्म अम्बेडकर की आदर्श समाज की संरचना के पाँच घटक तत्व निरूपित किये जा सकते हैं। लेखक के अनुसार अम्बेडकर ऐसी समाज व्यवस्था की रचना करना चाहते थे जिसमें सभी व्यक्तियों तथा वर्गों का सम्मिश्रण हो, जिसका दूसरा नाम भ्रातृत्व अथवा प्रजातन्त्र है।

इस अध्याय में लेखक ने पूर्व अध्ययनों की संक्षिप्त विवेचना करने के साथ ही इस अध्ययन की आवश्यकता तथा औचित्य को निरूपित किया है। अध्ययन के निम्न उद्देश्य बताये गये हैं - 1. आदर्श समाज की कसौटियाँ निर्धारित करना, 2. आदर्श समाज की संकल्पना को रूपांकित करना, 3. भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए आदर्श समाज की संकल्पना को रूपांकित करना, 4. आदर्श समाज की संकल्पना को मूर्त रूप प्रदान करने की राह में आने वाली सम्भावित बाधाओं के निवारण हेतु अपनायी जाने वाली रणनीति एवं उपाय, जिनके आधार पर आदर्श समाज की संकल्पना को साकार किया जा सके, को रेखांकित करना।

लेखक ने इस अध्याय में भारतीय सामाजिक संरचना के स्वरूपों को अग्रानुसार स्पष्ट किया है - 1. वैदिक संरचना, 2. बौद्ध संरचना, 3. स्मृतिकालीन मध्यकालीन संरचना, तथा 4. संविधानगत संरचना के साथ ही संविधानेतर परिकल्पित संरचना के बारे में भी विचार व्यक्त किये है।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने भारतीय सामाजिक नवरचना की आवश्यकता को इसलिये महसूस किया कि संविधान लागू होने के इतने वर्षों बाद भी भारत एक मजबूत और उन्नत समाज की स्थापना के लक्ष्य से बहुत दूर है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में परम्पराओं पर आधारित सामाजिक संरचना यदि नुकसानदेह सिद्ध होती है तो एक ऐसी नव संरचना को अपनाया जा सकता है जिस पर गर्व किया जा सके। उन्होंने यहाँ यह प्रश्न भी किया है कि क्या संविधानगत संरचना एक आदर्श, सशक्त और उन्नत भारतीय समाज की रचना कर पायी है? इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि आदर्श समाज की संरचना न्यायपूर्ण हो, उसका विधान न्यायसंगत हो और उसकी वैचारिकी न्यायपरक हो। आवश्यकता इस बात की है कि एक जातिविहीन, न्याय, एकता और विकासपरक आदर्श समाज की रचना के लिए आवश्यक वैचारिक, वैधानिक एवं व्यावहारिक पहल की जाये।

तृतीय अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें बताया गया है कि भारतीयों के लिए यह गौरव का विषय है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता से लेकर बौद्धकालीन सभ्यता तक करीब 3000 वर्षों से भी अधिक समय तक वे विश्व में सशक्त, समृद्ध, उन्नत और अग्रणी रहे। यहीं यह एक त्रासदीपूर्ण और शर्मनाक विषय है कि मध्यकाल से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक के बीच करीब बारह सौ वर्षों तक गुलाम रहे। इतनी लम्बी अवधि तक दुनिया की शायद ही कोई कौम गुलाम रही हो। इतने समय तक गुलाम रहने के पीछे निश्चित रूप से अपनी कुछ कमजोरियाँ रहीं होंगी। इन कमजोरियों को दूर किये बिना वर्तमान प्रगति को बनाये रखना मुश्किल होगा। इस तथ्य के मद्देनजर प्रस्तुत अध्याय इस दिशा में किया गया एक वस्तुनिष्ठ प्रयास है। यहाँ लेखक ने चिन्ता व्यक्त की है कि समाज में बुद्धिजीवियों, विशेष रूप से समाज वैज्ञानिकों का जहाँ नैतिक दायित्व बनता है कि वे ऐसे विषयों को समाज के सम्मुख उठाएँ वहीं मीडिया से जुड़े लोगों की यह नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि इन्हें आम जनता तक पहुँचाएँ।

सुद्रास

चतुर्थ अध्याय में सामाजिक संरचना के प्रमुख तत्वों में संस्कृति एव वैचारिकी पर विस्तृत चर्चा की गई है। पंचम अध्याय में संविधानगत सामाजिक संरचना तथा वैदिककालीन सामाजिक संरचना के तुलनात्मक प्रारूप का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन गया किया गया है। शास्त्रगत सामाजिक संरचना न केवल अन्यायपूर्ण अनैतिक और समाज विरोधी है बल्कि समाज की एकता और प्रगति में बाधक भी है। ऐसे में भारतीय समाज यदि एक न्यायपूर्ण, संगठित और उन्नत समाज बनना चाहता है तो उसे आज नहीं तो कल जाति को समाप्त करना ही होगा।

षष्ठ अध्याय में संविधानगत सामाजिक संरचना की आवश्यकता को निरूपित किया गया है क्योंकि भारतीय सामाजिक संरचना अन्याय एवं भेदभावपूर्ण थी। आजादी के बाद सामाजिक संरचना में बदलाव के लिए तीन समस्याएँ थीं - 1. कठोर और गतिहीन समाज को लचीला बनाना, 2. दलित महिलाओं और पिछड़ी जातियों की निर्योग्यताओं को दूर कर पर्याप्त संरक्षण और सुरक्षोपाय प्रदान किया जाना, तथा 3. धर्म के आधार पर राष्ट्र के बँटवारे से उपजे साम्प्रदायिक संघर्ष से निपटना।

अध्याय सात एवं आठ में शास्त्रगत संरचना के संविधानगत संरचना में रूपान्तरण का विश्लेषण किया गया है। संविधान लागू होने के साथ यद्यपि परम्परात्मक वर्णाश्रम, धर्म, कर्म, एवं पुनर्जन्म सबन्धी वैचारिकी को लोकतान्त्रिक वैचारिकी से स्थानापन्न तो कर दिया गया किन्तु लोकतान्त्रिक वैचारिकी के जमीनी स्तर पर प्रभावी न हो पाने के कारण परम्परात्मक जाति आधारित संरचना की विसंगतियाँ अभी पूरी तरह दूर नहीं हो पायी हैं।

इन अध्यायों में संविधान द्वारा प्रदत्त प्रावधानों का विश्लेषणात्मक वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि संविधान द्वारा की गयी व्यवस्था से कमजोर वर्गों की स्थिति में सुधार तो हुआ है किन्तु नयी समस्याएँ भी उभर रही हैं, जिनमें नौकरशाही में भ्रष्टाचार, क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि प्रमुख हैं। भारत जैसे बहुल और विविधतापूर्ण समाज में राजनीतिक तुष्टीकरण एवं वोट की राजनीति, जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र आदि विभाजनकारी निष्ठाओं को बनाये रखती है।

नवम अध्याय में आदर्श सामाजिक सरचना की कसौटियाँ तय की गयी हैं। सामाजिक संरचना व्यक्तियों और समूहों की स्थितियों एवं भूमिकाओं की बहुत कुछ स्थायी सम्बद्धता हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखें तो सामाजिक संरचना स्थिति और भूमिका के सन्दर्भ में व्यक्तियों और समूहों के बीच संबद्धता के प्रतिमान को व्यक्त करती है। इसलिये इसके आदर्श होने का अर्थ इसकी नियामक इकाइयों के बीच सम्बद्धता के रचना के आदर्श या गुणवत्तापूर्ण होने से है।

भारतीय सन्दर्भ में चूंकि जाति और धर्म, स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और एकतापरक मुक्त एवं पारगम्य सामाजिक संरचना की स्थापना के मार्ग में अत्यधिक सशक्त अवरोध हैं, इन्हें दूर करने के लिए जातिविहीन तथा धर्मविहीन समाज की स्थापना संवैधानिक दायरे में रखकर करने के प्रयास होने चाहिए। लेखक ने प्राचीनकाल, बुद्धकाल, मध्यकाल तथा वर्तमान काल की सामाजिक संरचनाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया है। देश के विकास एवं

एकता के लिए आदर्श समाज की स्थापना का सुझाव दिया है जहाँ न्याय, समानता, भाईचारा तथा लोकतान्त्रिक मूल्य हो।

यह पुस्तक वैज्ञानिक तरीके से समाज के अध्ययन पर आधारित है। समाजशास्त्र विषय में इस प्रकार के अध्ययन एवं लेखन का अभाव अनुभव किया जा रहा था, किन्तु लेखक का यह प्रयास समाजशास्त्र अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण सोपान सिद्ध होगा।

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
के स्वामित्व एवं अन्य विवरण के सन्दर्भ में घोषणा

फार्म - 4 (नियम 8)

1.	प्रकाशन का स्थान	:	मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, 6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
2.	प्रकाशन अवधि	:	अर्द्धवार्षिक
3.	मुद्रक का नाम	:	डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
	क्या भारत के नागरिक है?	:	हाँ
	(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)	:	लागू नही
	पता	:	6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
4.	प्रकाशक का नाम	:	डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
	क्या भारत के नागरिक है?	:	हाँ
	(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)	:	लागू नही
	पता	:	6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
5.	सम्पादक का नाम	:	डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
	क्या भारत के नागरिक है?	:	हाँ
	(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)	:	लागू नही
	पता	:	6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हो, तथा जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	:	निदेशक, मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान 6, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन (म.प्र.) 456010

मैं डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गये विवरण सत्य हैं।

डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया
प्रकाशक के हस्ताक्षर

लेखकों के लिए अनुदेश

मध्य प्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल में समाज विज्ञान से सम्बन्धित सैद्धान्तिक आलेख, अनुभवजन्य शोध आधारित आलेख, टिप्पणियाँ और पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित की जाएँगी। लेखकों से निवेदन है कि अपनी रचनाएँ प्रकाशन हेतु प्रेषित करते समय निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखें -

- कृपया अपनी रचना को यूनीकोड फॉन्ट में टंकित कर एमएस-वर्ड फाइल में mailboxmpissr@gmail.com पर ई-मेल के माध्यम से प्रेषित करें। शोध आलेख की शब्द सीमा 3500 से 5000 के बीच होना चाहिए। शोध आलेख के साथ 100-150 शब्दों में शोध आलेख का सारांश भी अनिवार्य है।
- विशेष परिमाण संख्या जैसे 2 प्रतिशत या 5 किलोमीटर को सूचित करने के अतिरिक्त इकाई अंकों (1-9) को शब्दों में ही लिखें जबकि दहाई एवं उससे अधिक की संख्या को अंकों में लिखें।
- किसी भी वर्तनी के लिए एकरूपता महत्वपूर्ण होती है। सम्पूर्ण रचना में एक ही शब्द को विभिन्न प्रकार से नहीं लिखा जाना चाहिए। इसमें प्रचलन और तकनीकी सुविधा का ध्यान रखा जाना चाहिए।
- रचना में उद्धृत वाक्यांशों को दोहरे उद्धरण चिह्न ("...") के मध्य दें। यदि उद्धृत अंश तीन वाक्यों से अधिक का हो तो उसे अलग पैरा में दें। उद्धृत अंश में लेखन की शैली और वर्तनी में कोई भी परिवर्तन अपनी ओर से न करें।
- सभी टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ शोध आलेख के अंत में दिये जाएँ तथा शोध आलेख में यथास्थान उनका आवश्यक रूप से उल्लेख करें। सन्दर्भ सूची में किसी भी सन्दर्भ का अनुवाद करके न लिखें। सन्दर्भों को उनकी मूल भाषा में ही रहने दें। यदि सन्दर्भ में हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा का मिश्रण हो तो सन्दर्भ को लिप्यान्तरित कर देवनागरी लिपि में ही लिखें।
- समसामयिक प्रासंगिकता, स्पष्ट एवं तार्किक विश्लेषण, सरल एवं बोधगम्य भाषा, उचित प्रविधि आदि शोध आलेख के प्रकाशन हेतु स्वीकृति के मानदण्ड होंगे। प्राप्त रचनाओं की समीक्षा प्रकाशन से पूर्व विषय विशेषज्ञों द्वारा की जाती है। यदि समीक्षक रचना में संशोधन हेतु अभिमत देते हैं तो रचनाकार को वांछित संशोधन करने होंगे। किसी भी शोध आलेख को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादक का होगा।
- पत्र व्यवहार का पता : सम्पादक, मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, 6, प्रो. रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 (म.प्र.)।

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली तथा उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन द्वारा स्थापित स्वायत्त शोध संस्थान है। कार्य एवं स्वरूप की दृष्टि से मध्यप्रदेश में यह अपनी तरह का एकमात्र शोध संस्थान है। समाज विज्ञानों में समकालीन अन्तरशास्त्रीय संदृष्टि को बढ़ावा देते हुए समाज विज्ञान मनीषा का सशक्त संवाहक बनना संस्थान का मूल उद्देश्य है।

अपनी संस्थापना से ही यह संस्थान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक एवं विकास की विभिन्न समस्याओं, मुद्दों और प्रक्रिया ओं पर अन्तरशास्त्रीय शोध को संचालित और प्रोत्साहित करते हुए सामाजिक, आर्थिक और नीतिगत महत्त्व की शोध परियोजनाओं को क्रियान्वित करता है।

संस्थान की शोध गतिविधियाँ मुख्यतः पंचायत राज एवं ग्रामीण विकास, अनुसूचित जाति एवं जनजाति से सम्बन्धित मुद्दे, विकास एवं संस्थापन, पर्यावरण अध्ययन, सामाजिक न्याय, लोकतन्त्र एवं मानवाधिकार, सूचना तकनीकी तथा समाज, शिक्षा एवं बाल अधिकार एवं नवीन आर्थिक नीतियाँ आदि संकेन्द्रण क्षेत्रों पर केन्द्रित हैं।

परिसंवादों, संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, प्रशिक्षण कार्यक्रमों आदि अकादमिक अनुष्ठानों का आयोजन, समाज विज्ञानों में अनुसन्धानपरक नवोन्मेष एवं नवाचारों का प्रवर्तन, मन्त्रालयों एवं अन्य सामाजिक अभिकरणों को परामर्श एवं शोधपरक सहयोग प्रदान करना संस्थान की अन्य प्रमुख गतिविधियाँ हैं। संस्थान में एक संवर्द्धनशील पुस्तकालय एवं प्रलेखन केन्द्र है जिसमें समाज विज्ञानों पर पुस्तकें, शोध जर्नल्स और प्रलेख उपलब्ध हैं।

संस्थान शोध कार्यों को अवसरिक पत्रों, विनिबन्धों, शोध-पत्रों एवं पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त दो षाण्मासिक शोध जर्नल - मध्यप्रदेश जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज़ (अँग्रेजी) एवं मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल (हिन्दी) का प्रकाशन भी संस्थान द्वारा किया जाता है।

भारत के समाचार पत्रों के पंजीयक के कार्यालय में
पं.क्र. MPHIN/2003/10172 द्वारा पंजीकृत

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान के लिए
डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया द्वारा
6, रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश) से
प्रकाशित एवं मुद्रित